

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186111

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H 400
Call No. S 53 B Accession No. H 2102

Author ଶର୍ମା, ଶତ୍ରୁଘ୍ନାଧରାୟ.

Title ଶର୍ମା ବିଜ୍ଞାନ ଚର୍ଚ୍ଚା -

This book should be returned on or before the date
last marked below.

भाषा विज्ञान तत्त्व

[भाषा विज्ञान पर एक संचिप्त और सरल अध्ययन]

लेखक—

प्रो० प्रभुनारायण शर्मा 'सहृदय'

अध्यक्ष—हिन्दी विभाग

महाराज संस्कृत कॉलेज, जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
आगरा ।

द्वितीयवार]

१६५१

[मूल्य १।।)

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हौस्पीटल रोड, आगरा

मुद्रक
बालकृष्ण वंसल
वंसल प्रेस, आगरा

अपनी बात

‘भाषा विज्ञान तत्त्व’ का जन्म अध्यापिका सुश्री ‘कुसुम’ के अध्यापन का परिणाम है। आरम्भ में, सुश्री ‘कुसुम’ का पढ़ाने के सम्बन्ध में ही भाषा विज्ञान के कुछ आवश्यक विषयों का, पाठ्य-ग्रन्थों के आधार पर, संचिप्त व सरल नोट्स के रूप में संकलन किया गया था। जिस समय ये नोट्स लिखे जा रहे थे—कौन जानता था, इन्हें एक स्वतन्त्र पुस्तक का भी रूप मिल सकेगा। साहित्यरत्न, और एम० ए० के भाषा विज्ञान के पाठ्य-ग्रन्थों के अध्ययन में विद्यार्थी का जो असुविधाएँ और अड़चनें होती हैं उनका अनुभव करके ही हमने भाषा विज्ञान के आवश्यक स्थलों को संचिप्त करके ‘भाषा-विज्ञान तत्त्व’ के नाम से परीक्षार्थियों के लाभार्थ प्रस्तुत कर दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में, अनावश्यक उदाहरण व ऊहात्मक शैली जो विद्यार्थी के लिये कठिनाई खड़ी कर देते हैं, नहीं हैं। जहाँ तक हम से बन सका है, हमने प्रस्तुत पुस्तक के विषय और पारिभाषिक शब्द पाठ्य-ग्रन्थों के अनुसार ही रखने की चेष्टा की है। साथ ही भाषा विज्ञान सम्बन्धी अन्य उपलब्ध ग्रन्थों के सिद्धान्तों का भी समन्वयात्मक उपयोग किया है। इससे आशा है, पुस्तक कुछ उपयोगी बन गई होगी, और भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को अपने पाठ्य-ग्रन्थों के समझने में पूर्ण सहायक सिद्ध होगी। इतना ही नहीं ‘तत्त्व’ के पाठक परीक्षार्थी परीक्षोपयोगी आवश्यक प्रश्नों को भी सरलता से हल कर सकने में समर्थ हो सकेंगे ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

‘भाषा-विज्ञान-तत्त्व’ की प्रतिपादन शैली, सम्भव है, कुछ बदला हुई सी भासित हो, परन्तु, फिर भी पाठ्य-ग्रन्थों के विषय में कठिनाई उत्पन्न करने वाली नहीं है। इससे छात्रों को पाठ्य-ग्रन्थ समझने में किसी प्रकार की कोई अड़चन होने की आशंका बिल्कुल नहीं होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त ‘तत्त्व’ में आवश्यकतानुसार मानचित्र देकर संसार के व भारत के भाषा-समुदाय, मण्डल (चक्र) व कुल प्रदर्शित किये गए हैं कि जिनसे विद्यार्थियों को सरलता से भाषा परिवार सम्बन्धी उलझे हुए विषय का स्थायी ज्ञान हो सकना विवाद रहित है।

अन्त में हम उन महानुभावों के प्रति परम विनीत भाव से कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जिनके ग्रन्थों से हमने विषय संकलन करके लाभ उठाया है। यदि यह पुस्तक छात्रों के लिये उपयोगी व लाभदायक सिद्ध होगी तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

दिनांक १-१-५०

—सहृदय

विषय-सूची



अ

क्रम	विषय	पृष्ठ
१—	भाषा विज्ञान और व्याकरण	२
२—	भाषा और भाषा विज्ञान	३
३—	भाषा विज्ञान और कला	४
४—	भाषा विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध	५
५—	भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त	६
६—	भाषा विकास के मूल कारण	८
७—	क्या भाषा अर्जित या परम्परागत है ?	१२
८—	भाषा का गठन	१३
९—	ध्वनि विवेक	१५
१०—	स्वर ध्वनि का वर्गीकरण	२१
११—	व्यञ्जनों का वर्गीकरण	२३
१२—	ध्वनियों की विशेषता या गुण	२५
१३—	संयुक्त (मिश्र) ध्वनियाँ	२६
१४—	ध्वनि परिवर्तन या विकास	२७
१५—	रूप विचार	२८
१६—	पद विकास	३१
१७—	लिङ्ग	३२
१८—	वचन	३३

क्रम	विषय	पृष्ठ
१६—	काल	३३
२०—	प्रेरणार्थक क्रिया	३४
२१—	वाच्य	३४
२२—	पद	३४
२३—	वृत्ति	३५
२४—	विभक्ति	३५
२५—	कारक	३५
२६—	शब्द (पद) के भेद और व्याख्या	३६
२७—	पद विकास के कारण	३८
२८—	अर्थ विवेक	३६
२९—	भाषाओं का वर्गीकरण	४३
	[क] आकृति मूलक वर्गीकरण	४४
	[ख] वंशानुक्रमिक वर्गीकरण	४६
३०—	भिन्न भिन्न भाषा परिवार	४७
	[क] यूरोशियायी चक्र	
	(१) सामी भाषा समूह	४८
	(२) उगल उल्टाई भाषा समूह	४६
	(३) चीनी भाषा समूह	५०
	(४) काकेशी भाषा समूह	५१
३१—	परिवार मुक्त भाषाएँ	५१
	[ख] अमरीकी चक्र	५१
	[ग] प्रशान्त महासागरीय चक्र	५३
	[घ] अफ्रीकी चक्र	५४
	(१) बांदू शाखा	५५
	(२) सूडान शाखा	५५
३२—	सामी हामो शाखाएँ	५६

क्रम विषय पृष्ठ

आ

३३—आर्य परिवार या भारोपीय परिवार		५८
३४—आदिम भाषा और आर्य परिवार की ध्वनियाँ		५८
३५—पद रचना		६०
३६—मूल भाषा की विशेषताएँ		६१
३७—मूल भाषा भाषी		६१
३८—मूल लोगों का नाम		६२
३९—केन्टुम् व शतम् वर्ग-विवेक		६४
४०—आर्य परिवार की कुछ भाषाओं का संक्षिप्त परिचय और भारतीय आर्य भाषाओं का अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद		६६
४१—ईरानी भारतीय शाखा		६८
४२—भारतीय (आर्य) शाखा		६९
४३—आधुनिक देश भाषाएँ	...	७१
४४—अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, मध्यवर्ती	...	७२
४५—चटर्जी का वर्गीकरण वृत्त		७३
४६—भारत के पांच आर्य व अनार्य भाषा-परिवार		७४
४७—भारतीय भाषाओं पर मुण्डा का प्रभाव	...	७६

इ

४८—भाषा विज्ञान की खोज का इतिहास		
[क] भारत का क्षेत्र		७६
[ख] पश्चिम का क्षेत्र		७७

ई

४९—लिपि के विकास का इतिहास		७९
५०—यूरोप की लिपियाँ		८१

क्रम	विषय	पृष्ठ
५१—	भारतीय लिपियाँ	८२
५२—	भारतीय लिपि सामग्री	८४
५३—	भारत में लिपि ज्ञान की प्राचीनता	८४
५४—	भारत में अंक लेखन	८४
५५—	नागरी का नामकरण	८८
५६—	लिपि विकास पर एक अन्य मत....	८८

उ

५७—	ग्रिम नियम या जर्मन भाषाओं का प्रथम वर्ण परिवर्तन तथा ग्रासगान व हर्नर के उपनियम	८६
-----	--	----

ऊ

५८—	हिन्दी भाषा की उत्पत्ति	९१
५९—	ध्वनि समूह	९३
६०—	हिन्दी का विस्तार, मूल अर्थ, शास्त्रीय, अर्थ व परिभाषाएँ	९५
६१—	हिन्दी की कुछ अन्य बोलियाँ	९७
६२—	हिन्दी का शब्द समूह	९८
६३—	हिन्दी का आधुनिक रूप	
	[क] भाषा की दृष्टि से	१००
	[ख] भाव की दृष्टि से	१०१
६४—	कुछ आवश्यक टिप्पणियाँ	१०४

भाषा विज्ञान तत्व

(अ)

भगवान् की सृष्टि में बड़े-बड़े रहस्य भरे पड़े हैं। मनुष्य स्वयं एक रहस्य है। उसकी वाक्-शक्ति शेष सृष्टि से भिन्न व अधिक विकसित होने के कारण वह भी एक रहस्य है, और स्वतन्त्र विचार का विषय बन जाती है। इसी वाक्-शक्ति के विषय में विवेचना करने वाला साधन 'भाषाविज्ञान' कहलाता है। भाषाविज्ञान वास्तव में भाषा के जीवन-मूत्र का पता लगाकर उसके विकास व ह्रास पर प्रकाश डालता है। भाषा-विज्ञान बतलाता है कि भाषा में वर्ण किस प्रकार आते हैं, कैसे वे नष्ट हो जाते हैं, कैसे संज्ञाएँ, क्रियाएँ व विभक्तियाँ विकसित होती हैं, कैसे अर्थ में विस्तार होता है एवं कैसे लोप ! एक भाषा समय पाकर कई भाषाओं या बोलियों में कैसे बदल जाती है अथवा भाव कैसे बदलते रहते हैं—उनका—उनकी बाहक भाषा के स्वरूप पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है आदि-आदि सारे विषय जिस साधन के द्वारा अवगत होते हैं वह साधन विशेष ही 'भाषाविज्ञान' कहलाता है। संक्षेप में कह सकते हैं किसी भाषा की उत्पत्ति, विकास व बनावट के नियम बनाने वाले व कारण खोजने वाले शास्त्र का नाम ही 'भाषा विज्ञान' है।

भाषाविज्ञान और व्याकरण

यहाँ यह प्रश्न उठता स्वाभाविक ही है कि किसी भाषा के विषय में नियमन करने वाला तो 'व्याकरण' भी है; फिर उसमें और भाषाविज्ञान में क्या अन्तर, अथवा क्या साम्य-वैषम्य है ?

बात यही है कि प्रथम तो व्याकरण किसी भाषा के वर्तमान रूप का ही विवेचन करता है, उसके जीवनसूत्र की खोज नहीं; और न उसके विकास-हास सम्बन्धी नियमों पर ही प्रकाश डालता है। व्याकरण-शास्त्र एक अति प्राचीन शास्त्र है, उसमें भाषाविज्ञान के तत्त्वों का इतना अधिक समावेश रहता है कि क्या भारत और क्या पश्चिम ने उसे विज्ञान व शास्त्र दोनों ही का पद दे दिया है। आधुनिक काल में पं० स्वीट (एक अंग्रेज़ विद्वान्) ने तक व्याकरण को कला और विज्ञान दोनों माना है। अतः व्याकरण व भाषा-विज्ञान के कार्य-क्षेत्र को अलग-अलग कर देना आवश्यक हो गया है, ताकि भ्रम होने की सम्भावना ही न रह जाय।

व्याकरण से केवल उस कला का बांध होता है जो भाषा और उसके शब्दों की शुद्धि व अशुद्धि का विचार करती है, जबकि भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करना केवल भाषाविज्ञान का ही विषय हो जाता है। इसी से अब वर्णनात्मक व्याकरण ही व्याकरण समझा जाता है, और व्याख्यात्मक व्याकरण की परिगणना भाषा विज्ञान की सीमा में होती है। व्याख्यात्मक व्याकरण अथवा भाषाविज्ञान के तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं:—

क—ऐतिहासिक

ख—तुलनात्मक

और ग—सामान्य

ऐतिहासिक व्याकरण भाषाओं के पूर्व रूपों की खोज करता है। तुलनात्मक व्याकरण सजातीय भाषाओं की तुलना करता है और सामान्य व्याकरण सभी भाषाओं में साधारण नियमों की खोज व तुलना करता है। पर इन तीनों का आधार है वर्णनात्मक व्याकरण ही। इस प्रकार विवेचन करने पर अब कह सकते हैं कि व्याकरण कला है, भाषाविज्ञान विज्ञान। व्याकरण का क्षेत्र संकुचित है, विज्ञान का व्यापक। व्याकरण वर्णनप्रधान है, भाषाविज्ञान व्याख्याप्रधान। व्याकरण 'क्या' का उत्तर देता है और भाषाविज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' दोनों का।

भाषा और भाषा विज्ञान

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करते हैं। विचार प्रकट करने का कार्य जिस प्रकार से भी सम्पन्न किया जाता है, वही प्रकार भाषा कहला सकता है। भाषा की इसी व्यापक परिभाषा के आधार पर भाषा के दो क्षेत्र हो गये हैं—व्यापक और संकुचित। भाषा के व्यापक अर्थ से उन सब साधनों का ज्ञान होता है जिनके द्वारा मनके भाव प्रकट किये जा सकते हैं। पर भाषाविज्ञान में इन सब साधनों के लिये कोई स्थान नहीं। भाषा-विज्ञान तो भाषा के संकुचित रूप को ही लेकर चलता है, क्योंकि सार्थक ध्वनिसमूह—जो संकुचित अर्थ वाली भाषा का आधार है—वही भाषा विज्ञान के विचार का विषय बनता है। भाषा के व्यापक अर्थ में तो इङ्गित, चित्र तथा अन्य कई साधन, जिनके द्वारा मनुष्य अपने भाव प्रकट करके विचार-विनिमय कर लेता है, आजाते हैं। पर भाषा-विज्ञान से इन साधनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा-विज्ञान तो सार्थक शब्द-समूह वाले भाषा के स्वरूप पर ही विचार करता है, और भाषा का यह स्वरूप संकुचित स्वरूप है।

भाषा विज्ञान और कला

जिस भाषा-विज्ञान का भाषा के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह कला की कोटि में आता है या विज्ञान की कोटि में, यह विचार भी स्वभावतः ही उठता है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि ज्ञान दो प्रकार होता है:—

क—स्वतःसिद्ध (यह प्राणिमात्र में होता है)
और ख—बुद्धिग्राह्य (यह मनुष्य में ही होता है)
बुद्धिग्राह्य ज्ञान के दो भेद हैं:—

क—कला
और ख—विज्ञान ।

कला और विज्ञान का मोटा अन्तर यह है कि कला परि-वर्तनशील व देशकालानुसारिणी होती है, जबकि विज्ञान शाश्वत होता है। भाषाविज्ञान के भी कुछ तत्त्व अटल हैं, अतः वह विज्ञानकोटि की ही वस्तु है, कलाकोटि की नहीं। कला और विज्ञान का दूसरा मोटा अन्तर यह भी है कि कला मनुष्य-कृत होती है एवं विज्ञान ईश्वरकृत। अतः स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान कला नहीं, विज्ञान ही है। कला में देश-काल के प्रभाव से परिवर्तन हो जाता है; यथा—चीन की चित्रकला, बंगाल की चित्रकला से भिन्न है। इंग्लैण्ड की संगीतकला भारत की संगीत कला से भिन्न है। परन्तु $1+1=2$ यह गणित का सिद्धांत सभी काल व सभी देशों में सदा से ही इसी परिणाम को दे रहा है, और देता रहेगा। इस नियम में जो शाश्वतता है वही विज्ञान का मूल है। भाषाविज्ञान में भी, जैसा ऊपर कहा है कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सदा सब काल में एक से ही रहते हैं—उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता, अतः भाषा-विज्ञान विज्ञान ही है, कला नहीं।

भाषा-विज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

भाषाविज्ञानका अन्य शास्त्रों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है । विचार का सम्बन्ध ज्ञान से है, और भाषाविज्ञान का विचार से अतः भाषाविज्ञान का सम्बन्ध अन्य सभी विचारों या विज्ञान से भी हो जाता है । सर्व प्रथम भाषाविज्ञान का सम्बन्ध **मनो-विज्ञान** शास्त्र से है, क्योंकि मनोविज्ञान ही भाषा-विज्ञान को यह चतलाता है कि किस प्रकार मस्तिष्क में विचार उठता है, किस प्रकार सुरक्षित रहता है और कैसे बदल जाता है ? आदि २

भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध **तर्क शास्त्र** से भी है, परन्तु तर्क शास्त्र से उतना सम्बन्ध नहीं जितना अन्य शास्त्रों से, क्योंकि तर्क शास्त्र के आधार पर तो भाषाविज्ञान को यही ज्ञात होता है कि कोई अर्थ विषय से सामान्य और सामान्य से विशय क्यों कर बन जाता है ।

भाषाविज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है । **समाज-शास्त्र** का भाषाविज्ञान एक प्रकार से दास है । बात भी ठीक ही है, क्योंकि समाज विचारों का क्षेत्र है । कैसे एक भारतीय नारी पति का नाम नहीं लेती, टट्टी को पाखाना; मरने को स्वर्गागमण, या देवलोक यात्रा, दिया बुझने को दिया बुझ गया आदि क्यों कहते हैं, एक शब्द को अच्छे और बुरे दो-दो अर्थों में क्यों प्रयुक्त किया जाता है ? इन सब बातों का उत्तर भाषाविज्ञान को समाजशास्त्र से ही प्राप्त होता है ।

भाषाविज्ञान का **शरीर शास्त्र** से भी सम्बन्ध है । शरीर शास्त्र द्वारा उच्चारण व ध्वनि सम्बन्धी प्रश्न हल किया जाता है कि जो भाषाविज्ञान का एक प्रमुख विषय है ।

भूगोल शास्त्र द्वारा भाषाविज्ञान को शब्दों के उच्चारण के अन्तर का ज्ञान होता है तथा **इतिहास** के द्वारा भाषाविज्ञान को

यह पता चलता है कि कब कौन भाषा कैसे-कहाँ पनपी, कब कहाँ क्या संस्कृति थी, और उसका भाषा पर कैसा प्रभाव पड़ा ?

साहित्य और भाषाविज्ञान का तो चोली-दामन का-सा संबंध है। साहित्य के मैदान में भाषाविज्ञान क्रीड़ा करता है। भाषा-विज्ञान का विचार के लिये शब्द साहित्य के ही कोष में मिलते हैं।

व्याकरण तो, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाषाविज्ञान का अङ्ग ही है। व्याकरण कुछ शब्दध्वनियाँ एकत्रित करके भाषा-विज्ञान को देता है। इन शब्दों व ध्वनियों पर भाषाविज्ञान विवेचना करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान उपर्युक्त सभी मानव-शास्त्रों से सम्बन्ध रखता है, और इन सब की सहायता से भाषाविज्ञान के, एवं भाषाविज्ञान की सहायता से इन सभी शास्त्रों के अध्ययन में परस्पर सुविधा व सुकरता होती है।

भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त

भाषा की उत्पत्ति व उद्गम के सम्बन्ध में कई वाद प्रचलित हैं। सर्व प्रथम दिव्यउत्पत्तिवाद है। आस्तिक लोगों का विश्वास है कि ईश्वर से भाषा की सृष्टि हुई है। ईश्वर ने वेद रूप से ऋषियों को भाषा प्रदान की, पीछे बाप से बेटे और पोंते ने सीखी। बौद्ध, ईसाई, यहूदी आदि सभी अपनी-अपनी धर्म-पुस्तकों के द्वारा इसी मत का समर्थन करते हैं। उनका मत है, ईश्वर ने सर्व प्रथम भाषा को जन्म दिया और वह वेदों ही की भाँति उनकी अपनी २ धर्म-पुस्तकों से उनके पूर्वजों को प्राप्त हुई है। परन्तु, नास्तिक लोग, जिनका ईश्वर की सत्ता में कोई विश्वास नहीं, मानते हैं कि मनुष्य गर्भ से ही भाषा सीखकर आता है। नास्तिकों के इस मत का, परन्तु, प्रत्यक्ष रूप में एक बालक पर परीक्षण करने से विरोध हो गया। एक बालक को जन्म से ही अलग रख कर पाला गया। जब वह बड़ा हुआ तो उसे भाषा सम्बन्धी कोई भी

ज्ञान न था। वह केवल 'हूँ' का उच्चारण ही कर सकता था। इस 'हूँ' का ज्ञान उसे उस मनुष्य की संगति में हुआ था जो उसे नित्य रोटी देने जाया करता था और 'हूँ' कह कर उसे अपनी ओर आकृष्ट किया करता था। इससे सिद्ध होगया है कि मनुष्य यदि किसी के सम्पर्क में नहीं आता तो कोई भी भाषा नहीं बोल सकता। इस परीक्षण के कारण एक तीसरा मत और चला इस मत के अनुसार आरम्भ में आपस में मनुष्यों ने मिल कर भाषा का निर्माण किया होगा। पर यह सिद्धान्त भी इस कारण नहीं टिक सकता कि आरम्भ में मनुष्यों ने मिल कर भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव समर्थनादि किस भाषा में किये होंगे, जब कि ध्वनि के कोई व्यक्त चिह्न ही नहीं थे।

इस प्रकार जब ये तीन सिद्धान्त या वाद समाप्त हो गये तब एक चौथा मत और चला। इस मत के अनुसार मनुष्यों ने आस-पास की प्रकृति से, पशु पक्षियों के शब्द-संकेतों से भाषा सीखा ऐसा माना जाता है। बिल्ली को 'म्याऊँ' करते देख मनुष्य ने उस का नाम 'म्याऊ' हो रखलिया। पत्ते को वृक्ष से गिरता देख उसके गिरने की ध्वनि 'पट' के आधार पर 'पत' या 'पत्र' और फिर 'पत्ता' कहना शुरू कर दिया। इस सिद्धान्त को लोगों ने अनुकरणमूलकतावाद नाम दिया, किन्तु ऐसे शब्द अन्य भाषाओं में नहीं मिलते। 'अथवस्कन' *भाषा इस कथन का उदाहरण है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी पंगु बन गया। ऐसी दशा में पाँचवाँ सिद्धान्त विस्मयादिवोधकतावाद के नाम से उपस्थित हुआ। इस वाद के अनुसार जब मनुष्य अत्यन्त प्रसन्न या दुखी होता है तो उसके मुख से कुछ विशप भावों को प्रकट करने वाली ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं यथा—छि:-छि:-

*अथवस्कन—अमेरिका प्रदेश के मैक्सिको प्रान्त की एक भाषा है।

धत्, आह, अरे इत्यादि; और इन्हीं से फिर भाषा का भी निर्माण मान लिया जाता है, परन्तु इस प्रकार के शब्द भाषा में बहुत ही कम हैं, तब समूची भाषा का निर्माण इनसे कैसे संभव हो सकता है, इस आपत्ति के साथ इस वाद का भी अन्त हो जाता है। इस कारण आज भाषाविज्ञानी अभी जंगलों में, बालकों में, पशु-पक्षियों में व प्रकृति में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध की खोज में व्यस्त हैं, और इसीलिये चूंकि अभी भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त निर्णीत नहीं होता, दिव्य उत्पत्तिवाद की शरण लेकर ही शान्ति लेना उचित प्रतीत होता है।

पश्चिम में पं० स्वाट ने भाषा के उद्गम के विषय में दो-तीन वादों को मिलाकर एक 'समन्वितवाद' स्थिर किया है। इस वाद पर लगभग आधुनिक भाषाविज्ञानी सभी सहमत हो गये हैं। समन्वितवाद के अनुसार भाषा अनुकरणात्मक, भावाभि-व्यञ्जनात्मक व प्रतीकात्मक तीन प्रकार के शब्दों के समन्वय से उत्पन्न हुई मानी जाती है। इस समन्वय में जो तीन वाद हैं उनमें से दो का परिचय ऊपर मिल चुका है। तीसरा है प्रतीकवाद। प्रतीकवाद से शारीरिक क्रियाओं के प्रतीकों से तात्पर्य है। यथा लैटिन भाषा का 'बिबेर' संस्कृत का 'पिबति' और हिन्दी का 'पीना' इन सभी शब्दों के उच्चारण में ओष्ठपुट की चेष्टा एक सी ही होती है। इसी चेष्टा को प्रतीक बनाकर 'पीने' के भाव को व्यक्त किया गया है। जहाँ ये तीनों ही वाद एक साथ भाषा के उद्गम के हेतु माने जायँ वहीं समन्वितवाद का स्वरूप सिद्ध हो जाता है। यह समन्वितवाद ही आजकल सर्वमान्य सिद्धान्त है।

भाषा-विकास के मूल कारण

प्रत्येक क्षण ऐहिक (संमारी) वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। कोई वस्तु स्थिर नहीं। यही भारतीय क्षणिक वाद का

अटल सिद्धान्त है। भाषा भी इसी भाँति परिवर्तनशील है। क्या ध्वनि, क्या पद, क्या वाक्य सभी में परिवर्तन होता रहता है। भाषा की देशकाल के अनुसार जिस अनेक रूपता का हमें अनुभव होता है, वह भाषा की परिवर्तनशीलता की साक्षी दे रही है। यथा—आदित्यवार विकसित होकर 'इतवार' हो गया है, और 'एकादश' से 'ग्यारह,' 'द्वादश' से 'बारह,' एवं अलाबु से 'आल' तथा लौकी आदि बन गये हैं। भाषा के इस परिवर्तन के कारण भाषा ही में उपस्थित रहते हैं। उसे हम परम्परा से सीखते हैं, इस कारण यह निश्चित ही है कि ठीक वैसी ही, जैसी वह किसी अन्य के पास होती है, हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते। वैज्ञानिक रीति से देखा जाय तो मानना पड़ेगा कि कोई दो व्यक्ति बिलकुल एक तरह की भाषा नहीं बोल सकते। उच्चारण के साथ ही अर्थ सम्बन्धी भिन्नता भी स्वाभाविक है, क्योंकि, अर्थ अनुभवजन्य है, और अनुभव व्यक्तिगत भिन्नता पर निर्भर रहता है। इसी से भाषा में परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। इस परिवर्तन का उदाहरण है बालक का 'लपाना' के बज्जन पर 'पापाना' कहना। जब बालक ऐसा बोलता है, उसके माँ-बाप तुरन्त उसे टोकते हैं और बताते हैं—'पा सकना बोलो, इसी प्रकार बालक का 'लद्' 'घली' और 'छात' शब्दों को बड़े भाई बहन ठीक कर के बतलाते हैं—'लड्डू' 'घड़ी' व 'सात' बोला करो भैया ! इस प्रकार भाषा में कुछ अंशों में परिवर्तन होता रहता है, और कुछ अंशों में नहीं। यह विकास, गति और स्थिति के विचित्र संमिश्रण के रूप की तरह होता रहता है। भाषा-विज्ञानियों ने इस विकास के मूल कारण भी ढूँढने का प्रयत्न किया है वे मूल कारण पहले दो प्रकार के होते हैं:-साक्षात् और असाक्षात्। पुनः ये चार प्रकार के हैं।

१—असाक्षान्	}	क—शारीरिक भिन्नतावाद
		ख—भौगोलिक भिन्नतावाद
		ग—जातीय मानसिक अवस्था भेद
२—साक्षान्	}	घ—प्रयत्न लाघव या प्रयत्न शैथिल्य, तथा मिथ्या सादृश्य ।

प्रथमवाद के अनुसार शरीर-भेद के कारण भाषा में भेद होना माना जाता है। पर यह वाद परीक्षा की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यह नित्य देखा जाता है कि एक ही समुदाय में बड़े क़द के भी आदमी भी होते हैं, और छोटे क़द के भी तथा मोटे भी, पतल-दुबल भी, बड़े सिर वाले भी और छोटे सिर के भी। पर इनकी शारीरिक भिन्नता के कारण समुदाय की भाषा में विभिन्नता नहीं आती। द्वितीय भौगोलिक भिन्नतावाद के अनुसार भी कुछ लोगों का कथन है कि भाषा में भिन्नता आजाती है। ठंडे देशों के निवासियों को जाड़े के कारण मुँह ढके रहना पड़ता है। मैदानी लोगों की भाँति वे अधिक भुग्न नहीं खोल सकते हैं। यही कारण है कि एक प्रकार की भौगोलिक स्थिति वाले प्रदेश की भाषा दूसरे प्रकार के प्रदेश की भाषा से भिन्न होती है, परन्तु, यह वाद तर्क पर सही नहीं उतरता। इसका कारण यह है कि भाषा जब एक बार प्रवाह में पड़ जाती है तो भौगोलिक परिस्थिति उसके बनाने या विगाड़ने में सहायक या बाधक नहीं होती। इसी प्रकार कुछ लोगों का विचार है कि जातीय मानसिक अवस्था भेद के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है, क्योंकि किसी-एक जाति की मानसिक अवस्था दूसरी जाति की मानसिक अवस्था से ऊँची या नीची होती है, और इसी कारण भाषा में भेद उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वानों का यह मत है कि उनकी भाषा में एक सौष्ठव और गति है जो अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में नहीं है, और उनकी राय से

भाषा का यह सौष्टव और गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्टव के कारण है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यही बात प्रत्येक जाति अपनी-अपनी भाषा के विषय में कह सकती है।

अंत में चतुर्थ वाद आता है प्रयत्नलाघव। प्रयत्न-लाघव एक प्रकार से मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये कम से कम प्रयत्न करना अधिक पसन्द करता है। यदि एक ही स्थान पर पहुँचने के लिये दो मार्ग हों तो वाधाओं की परवाह न कर मनुष्य छोटे या शीघ्र पहुँचाने वाला मार्ग को ही अपनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति में उसकी समय बचाने की भावना है। प्रयत्न-लाघव में भी यही मूल प्रवृत्ति काम करती है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि भाषा के वे अंश जो बहुधा प्रयोग में आते हैं, उनका मूल अंश तो रह जाता है, किन्तु, शरीर विकल हो जाता है। अभिवादन के शब्द, व्यक्तियों के नाम, सर्वनाम, बहुव्यवहृत अव्यय इत्यादि में पर्याप्त विकार होने पर भी मूल शब्द की स्थिति रहती ही है। इसका कारण यही है कि बहुव्यवहार के कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है, पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनके आंशिक उच्चारण से ही काम चल जाता है। यथा 'वीरेन्द्र' से 'वीरेन' 'वीरेन्द्र' से 'वीरेन' 'रामेश्वर' से 'रामेश्वर', 'गोपीकृष्ण' से 'गोपीकिसुन'। इसके अतिरिक्त स्वराघात और भावातिरेक में भी भाषा-परिवर्तन हो जाता है। इसके मूल में भी सुविधाजन्य लाघव ही है। बड़े-बड़े शब्दों के पूरे रूप का उच्चारण न करके उनके आदि के अक्षरों अथवा समस्त शब्द के प्रथम पद को ही बोलकर काम निकालना भी प्रयत्न लाघव के सिद्धान्त का ही उदाहरण है। बोलते समय प्रयत्न लाघव की दृष्टि से मन बहुधा आगे की ध्वनियों पर दौड़ जाता है, और इस कारण तरह-तरह के ध्वनि विपर्यय

भाषा में आ जाते हैं। सामान्य रीति से नीचे लिखे विकार-प्रकार देखे गये हैं :—

क—परस्पर विनिमय यथा—	{ लखनऊ का नखलऊ डूबना का बूढ़ना अमरूद का अरमूद
ख—ध्वनिलोप या अक्षर लोप—	{ वृथा = वृत + था जहि = जहीहिं
*ग—समीकरण—	{ पुरोगामी (१) यथा—सं० लग्न, प्रा० लग्न पश्चगामी (२) यथा—सं० भक्त, प्रा० भक्त
घ—विपरीकरण—	यथा—सं० पक्क, प्रा० पिक्क।

इस प्रकार इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि संस्कृत भाषा की संधियों के प्रायः सभी नियम सुविधा अर्थात् प्रयत्नलाघव के द्वारा ही भाषा में आये होंगे।

क्या भाषा अर्जित या परम्परागत है

‘भाषा’ भाषण की क्रिया के समान क्षणिक व अनित्य नहीं है। वह एक परम्परागत वस्तु है, उसकी एक धारा बहती है, जो सतत परिवर्तनशील होने पर भी स्थाया और नित्य होती है। और जिस भाषण कृत भेद की लहरें नित्य उठा करती हैं, भाषा उसी ध्वनि-संकेत-संसर्ग की कृति है। धीरे-धीरे संसर्ग और अनुकरण के कारण दत्ता और श्रोता उस सम्बन्ध को स्वाभाविक समझने लगते हैं। इसीसे माना जाता है कि जब

*जब दो किञ्चित् भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ निकट-निकट आती हैं तो प्रयत्नलाघव से वे सम ले जाती हैं, इसी को समीकरण की क्रिया कहा जाता है। जहाँ परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती के समान हो जाती है वहाँ इसे पुरोगामी कहते हैं, और जहाँ पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती के समान हो जाती है तबही को पश्चगामी समीकरण कहते हैं।

एक शब्द चल पड़ता है तब उसे लोग संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं। घटना और परिस्थितियों के कारण भाषा में कुछ विकार भले ही आ जायें पर जान बूझकर वक्ता कभी परिवर्तन नहीं करता। प्रत्येक पीढ़ी नई भाषा उत्पन्न नहीं करती। अतः सिद्ध है भाषा परम्परागत सम्पत्ति है। भाषा के परम्परिक होने से और उसकी धारा के अविच्छिन्न रहने से यह अर्थ न समझना चाहिए कि भाषा कोई पैरुक्त और कुलक्रमागत वस्तु है। एक बालक अपनी मातृ भाषा के समान कोई दूसरी भाषा भी सुगमता से सीख सकता है, माता जो भाषा बोल उसे ही बालक सीख लेता है। यदि मां-बाप दोनों भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते हैं तो दोनों भाषाएँ बालक भी बोल-सकेगा। केल्ट जाति के लोग जो फ्रान्स में रहते हैं, केल्ट भाषा नहीं बोल सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि भाषण शक्ति को छोड़ कर भाषा का कोई ऐसा अंग नहीं जो प्राकृतिक हो और जिसका सम्बन्ध जन्म, वंश या जाति से हो। अतः भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। भाषा की रचना समाज के द्वारा ही होती है। अर्जन और उत्पादन में अन्तर होता है, अतः भाषा का विकास होता है, अर्जन नहीं।

भाषा का गठन

भाषा का लक्षण देखते हुए यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा, एक मनुष्य की बोली दूसरे से भिन्न होती है। जो मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है उसकी उसी प्रकार की भाषा भी बन जाती है। एक पुजारी की भाषा में संस्कृत के वातावरण से प्रभावित शब्दावली का होना आवश्यक है, तो एक मौलवी की भाषा में इससे भिन्न अरबी शब्दावली का रहना स्वाभाविक होगा। इसी प्रकार गाँव की बोली के विषय में समझना चाहिये। यद्यपि गाँव की बोली एक होती है, पर उसके

एकत्व के पीछे भिन्नत्व के बीज का अगोचर रूप से उपस्थित रहने हैं। किसी ग्राम-समुदाय को बाणी को बोली का नाम दिया जाता है। उसके भीतर के कुछ सूक्ष्म भेदों की अवहेलना करने पर ही यह नाम सम्भव है।

अवधी की बोलियों में मध्यम पुरुष एक वचन लखीमपुर में 'तुई' है, सीतापुर में 'तुड़'। पर इसीका सम्बन्ध सूचक विशेषण लखीमपुर में 'तोर' किया है तो सीतापुरी बोली में 'त्वार' किया जाता है। बहुधा बोलियाँ किसी भाषा के अन्तर्गत हुआ करती हैं, भाषा उन्हीं बोलियों में से एक कोई प्रमुख बोली को कहते हैं। किसी बोली की प्रमुखता के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं, जिनमें राजनैतिक प्रमुखता ही विराष कारण है। दूसरी बात है कि साहित्यिक विशेषता से भी भाषा प्रधान रूप ले लेती है। साहित्य के अतिरिक्त जनगण का प्रभाव भी भाषा को विकट बना सकता है। भाषा और बोली का अन्तर आपस में ये है कि बोली का क्षेत्र सीमित व भाषा का व्यापक है। बोली भाषा के अन्तर्गत है, भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं। ध्वनि व ध्वनिग्राम में जो अंतर है, वही अन्तर भाषा और बोली में समझ लेना चाहिये। जब किसी देश की बोली मानित (Standard) होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है तो आस-पास की बोलियाँ अपनी सारी विशेषताएँ खोकर भाषा ही में मिल जाती हैं। वह लिखित न हों तब भी अशिक्षित लोगों के हृदय उसे जीवित बनाये रहते हैं। लेखबद्ध भाषा विशिष्ट भाषा है। लेखबद्ध साहित्यिक भाषा ही भाषा के विकास की एक मंजिल है। विशिष्ट भाषा साधारण व साहित्य की भाषा से परे की वस्तु है यथा—कानूनी भाषा विशिष्ट जन समुदाय शब्दों को तोड़-मरोड़ के बोलने की पद्धति भी निकाल लेता है, और तब इस प्रकार की भाषा का रहस्यात्मक प्रभाव पड़ने लगता

है। प्रश्न होता है कि व्याकरण द्वारा भाषा का जो रूप प्रतिपादित किया जाता है, क्या भाषा का यही असली रूप है ? व्याकरण भाषा का विश्लेषण कर उसे तरह-तरह के पदों-संज्ञा, सर्वनामादि में बाँट देता है। आप देखते हैं, बालकों की भाषा एक एक, दो-दो पदों से आरम्भ होती है; और उसकी वाणी पदक्रम के अनुसार नहीं चलती। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि संघटित जनसमुदाय की विचारमाला में एक प्रकार की एकता होती है, यही एकता उस विचारमाला का मूल्य होती है, और इसी के आधार पर भाषा व बोली का भी निर्णय होता है।

ध्वनि-विवेक

पहले कहा जा चुका है कि भाषा मनोविकारों को व्यक्त करने वाले साधन का नाम है। किन्तु, एक दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये, इस साधन को व्यक्त रूप देने के लिये कुछ ध्वनि-संकेतों का भी काम में लिया जाता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से सामान्य परिभाषा के अनुसार भाषा मनोविकारों को व्यक्त करने वाले ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। ध्वनि शब्द में अक्षर, अक्षरों से बनने वाले भिन्न-भिन्न शब्द, और शब्दों से बनने वाले वाक्य एवं वाक्यों से गठित भाषा सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। यह हुआ ध्वनि शब्द का व्यापक अर्थ। वैसे ध्वनि का अर्थ है वर्ण (अक्षर) यही अर्थ भाषाविज्ञान में विवेचनीय है।

ध्वनि का विवेचन करने के लिये सरलता की दृष्टि से ध्वनि को प्रथम दो पारिभाषिक वर्गों में बाँटा जाता है:—

१—भाषण-ध्वनि

विषमीकरण में पार्श्ववर्ती सम ध्वनियों को उच्चारण की अनुविधा के कारण विषम कर दिया जाता है। यथा—मुकुट का मउड।

और २—ध्वनिमात्र

भाषण-ध्वनि का सम्बन्ध व्यक्तिगत उच्चारण से होता है। और जिसमें अनेक भाषण-ध्वनियाँ हों ऐसी एक जातिविशेष को ध्वनिमात्र कहते हैं। अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि भाषणध्वनि का सम्बन्ध उच्चारणकर्ता (व्यक्ति) से रहता है, और ध्वनिमात्र का सामान्य ध्वनि से।

उदाहरण के लिये 'जल्दी' और 'माल्टा' इन दो शब्दों को ले लीजिए। दोनों ही में 'ल' ध्वनि का प्रयोग है, किन्तु परीक्षा करने पर ज्ञात होगा दोनों के उच्चारणों में अन्तर है। उच्चारण का अर्थ है ध्वनि। ध्वनि का सम्बन्ध है उसके निकलने के स्थान से। मनुष्य के निर्माण में ध्वनि-यन्त्रों का निर्माण भगवान् ने बड़ा ही कलापूर्ण बनाया है। नाभि से दबाव खा कर फेंफड़ों से निकला हुआ वायु मुख-विवर में दबाता, रगड़ता टकराता या सोधा जब बाहर आता है, तब उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। यही कारण है ध्वनियों की भिन्नता में विराप हाथ मुखविवर के स्थानविशेष का रहता है। उक्त उदाहरण में भी 'जल्दी' शब्द की 'ल' ध्वनि दाँत के पास जीभ के टकराने से उत्पन्न होती है, इस लिये दन्त्य है; और दूसरे शब्द की 'ल' ध्वनि कुछ-कुछ मूर्धन्य है, क्योंकि बोलते समय 'माल्टा' शब्द की 'ल' ध्वनि जीभ के कुछ मूर्द्धा स्थान के पास लगने से होती है। वैसे सुनने में दोनों ही 'ल' ध्वनियाँ समान-सी प्रतीत होती हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ध्वनि मात्र तो दोनों ही उदाहरणों में 'ल' ध्वनि के नाते एक ही है; किन्तु, भाषण की विरापता से या व्यक्ति के बोलने के अपने-अपने ढंग के कारण भाषण-ध्वनि दो हैं। और दो ही क्यों, वक्ता की अपनी विरापता के कारण कई प्रकार की भी हो सकती हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी, मराठी,

गुजराती आदि अन्य-अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार का ध्वनि सम्बन्धी विवेक सर्वत्र उपलब्ध है । इस प्रकार अब विद्यार्थी को यह समझ में आगया होगा कि ध्वनिमात्र व भाषण-ध्वनि में क्या अन्तर है, और भाषाविज्ञान में इन शब्दों का पारि-भाषिक प्रयोग किस-किस अर्थ में और क्यों किया जाता है ।

ध्वनि-विवेक का ध्वनि-विज्ञान या ध्वनि-शिक्षा कई नामों से कहा जा सकता है । ध्वनि-शिक्षा का प्रथम दो भागों में बाँटते हैं:-

१—स्थान

और २—प्रयत्न

किसी भी ध्वनि की उत्पत्ति में पहिले भीतर से आये हुए वायु को मुख-विवर के किसी स्थान से ही तो टकरा कर बाहर आना होता है । इसी से ध्वनि-शिक्षा में पहिले स्थान का विवेचन परम वांछनीय है । पुनः वक्ता या उच्चारणकर्त्ता अपने श्वास का बाहर फैकने में एक प्रकार की चेष्टा करता है । इस चेष्टा विंशप को ही 'प्रयत्न' शब्द से कहा जाता है । इन स्थान-प्रयत्नों को अध्ययन कर लेने पर ही ध्वनियों का विरलपण व वर्गीकरण संभव हो सकता है ।

साधारणतः स्थानों का संबन्ध बोल-चाल के साथ है । बोल-चाल के अंग निम्नलिखित हैं:—

१—फैफड़े (जहाँ से श्वास दबाव खाकर बाहर आता है)

२—काकल (कंठ में रहने वाला कागले का पोल का स्थान)*

३—अभिकाकल (काकलाग्र)

४—ध्वनि तार (ध्वनि को उत्पन्न करने वाला स्नायु)

५—कंठ पिटक (कंठ का ठातू भाग)

६—अन्न प्रणाली का पिछला भाग 'श्वास प्रणाली'

७—कंठमार्ग

* काकलं हि नाम ग्रीवावामुन्नत प्रदेशः

- ६—घंटी (काकल का लटकता हुआ भाग)
 १०—कोमल तालु (कंठ का बाहर की ओर का कोमल भाग)
 ११—मूर्धा (कंठ के कोमल भाग से बाहर की ओर का स्थान)
 १२—तालु (मुख-विवर का मध्य या जिह्वा के ऊपर का भाग)
 १३—वक्त्र (दांत व मूर्धा के बीच का भाग)
 १४—दन्तमूल (दाँतों की जड़)
 १५—जिह्वा ।

(क)	(ख)	(ग)	(घ)	(ङ)	(च)
-----	-----	-----	-----	-----	-----

जिह्वानीक जिह्वाग्र जिह्वोपाग्र जिह्वामध्य पश्चजिह्वा जिह्वामूल ये जिह्वा के ६ मुख्य विभाग हैं ।

जब फेफड़े से आया हुआ वायु स्वर-तंत्री को खोलकर प्रत्यक्षपूर्वक बाहर आता है तब उस वायु की संज्ञा 'नाद' कहा जाता है । जब यह स्वरतंत्री आपस में चिपकी नहीं रहती, खुली रहती है, उस अवस्था में बाहर आने वाला वायु को 'श्वास' कहा जाता है ।

स्वरतन्त्रो की स्थिति विरोध पर ही 'नाद' व 'श्वास' का भेद किया जाता है । उदाहरणः—

श्वासध्वनियाँ—ब, ग, ज,

नाद ध्वनियाँ प, क, स,

स्वर तो सभी नाद ध्वनियों में आते हैं । 'ह' हिन्दी व संस्कृत में नाद होता है, परन्तु अंग्रेजी में यह शुद्ध श्वास रहता है । हिन्दी में 'ह' वर्ण की एक विशेषता यह है कि जब यह ख, छ, ठ आदि श्वास-वर्णों के साथ आता है तो श्वासमय ही स्वयं भी हो जाता है ।

इस प्रकार जब हम ध्वनि के विषय में समझ लेते हैं तब ही हमें ज्ञात हो जाता है कि उच्चारण की दो प्रकार की मुख्य ध्वनियां हैं— श्वास और नाद। ध्वनि के श्वास और नाद दो भेद स्वर-तन्त्रियों की स्थिति के अनुसार किये गये हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनि के मुख से निकलने के प्रकार के आधार पर प्राचीन काल से ही ध्वनियों के दो वर्ग और चले आ रहे हैं— स्वर और व्यंजन। स्वर ध्वनि वह ध्वनि है जिससे उच्चारण में किसी प्रकार मुख में न स्पर्श होता है न घर्षण, केवल मुख-विवर में संकोच-विकासमात्र होता रहता है। पर व्यंजन ध्वनि के उच्चारण में थोड़ा-बहुत घर्षण अवश्य होता है। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि स्वर स्वतः उच्चरित होने वाली ध्वनि का नाम है, और व्यंजन उस ध्वनि का नाम है जिसके उच्चारण में स्वर-ध्वनि का सहयोग आवश्यक एवं-अनिवार्य रहता है। अब यह बात स्पष्ट है कि स्वरों के उच्चारण में श्वास अबाध गति से मुख-विवर से बाहर आता रहता है। सानुनासिक स्वरों के उच्चारण में कुछ श्वास की मात्रा नासिका छिद्र से भी बाहर आती है। स्वर व व्यंजन का स्वरूप अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से और भी स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यंजन वह सघोष वा अघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में, मुख में, पूर्णतया अथवा आंशिक बाधा उत्पन्न होती है। इस तरह कह सकते हैं कि स्वर सभी नाद होते हैं एवं व्यंजन कुछ नाद, और कुछ श्वास। इसका सामान्य नियम यह है कि एक उच्चारण-स्थान से उच्चरित होने वाले 'नाद' का प्रतिवर्ण 'श्वास' अवश्य होता है। प्रत्येक भाषा में स्वर और व्यंजनों की संख्या परिमित होती है। इनके संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं।

[ध्वनि की दृष्टि से स्वर-व्यंजन का स्पष्टीकरण]

तालिका संख्या १

स्वर	व्यंजन		स्थान	प्रयत्न
	घर्षक (अर्धस्पृष्ट और अर्ध विवृत)	स्पर्श या स्फोटक		
	अवस्था अल्पप्राण वर्ग का १, ३ महाप्राण वर्ग का २, ४ सानुना - सिक, वर्ग का पाचवां वर्ण		काकल्य	१
			ओष्ठ्य दन्तांष्ठ्य	२
			दन्त्य	३
			वक्त्र्य या दन्तमूलीय	४
			तालव्य	५
			मूर्धन्य	६
			कंठ्य	७
			कण्ठमूलीय या	८
			जह्वामूलीय	

घोष १
(नादमय)

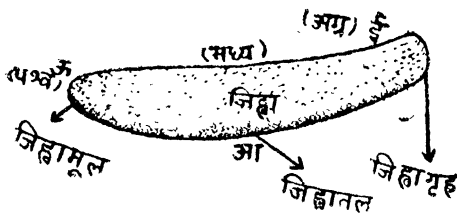
अघोष २
लासमयवर्ण

स्वर ध्वनि का वर्गीकरण

संस्कृत में 'वर्ण' से स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार की ध्वनियों का अर्थ ज्ञात होता है, पर 'अक्षर' से केवल स्वर-ध्वनि का ही बोध होता है। जिह्वा और ओष्ठों की विकृति या अवस्थाओं के कारण स्वरों में विपत्ता उत्पन्न होती है। यही कारण है कि स्वरों का वर्गीकरण जिह्वा की गति-विधि के आधार पर किया जाता है। साधारणतया जिह्वा की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

- १—सबसे ऊँची और आगे की (अग्र)
- २—सबसे ऊँची पीछे की (पश्च)
- ३—बीच की सबसे नीची (मध्य)

इन्हीं तीन अवस्थाओं के आधार पर स्वरों के अग्र, पश्च और मध्य तीन भेद होते हैं।



जिह्वा की उक्त तीनों अवस्थाओं में मुखविवर की भी आकृति बदलती है। मुखविवर की आकृति के अनुसार स्वरों की उच्चारण दशाओं के निम्न प्रकार बनते हैं :—

तालिका संख्या २

१ संवृत ... ई	
२ अर्द्ध संवृत ... ए	ऊ ... संवृत
३ अर्द्ध विवृत ... ऐ (वर्णक)	आ ... अर्द्धसंवृत
४ विवृत ... आ (अग्र)	औ ... अर्द्ध विवृत
	आ ... (पश्चविवृत)

१—संवृत उच्चारण की वह अवस्था है जिसमें जीभ का अग्रभाग ऊँचे से ऊँचा उठता है।

२-३—अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत जीभ की मध्यम स्थिति हैं।

४—विवृत मुख की खुली हुई स्थिति का नाम है। इन तीन उच्चारण दशाओं के उदाहरण क्रमशः—ऊपर, अनेक, बोटल, और आम में ऊ, ए, ओ व आ स्वर हैं।

व्यंजनों का वर्गीकरण

जैसा तालिका संख्या १ से स्पष्ट है, स्थान व प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण किया जाता है। पहलू व्यंजन वरयंत्र के घोष के कारण दो प्रकार के होते हैं—सघोष और प्रघोष। फिर सघोष के दो भेद हैं—पूर्ण सघोष व अपूर्ण सघोष। वहाँ व्यञ्जन के उच्चारण पर्यन्त घोष चलता रहे वहाँ पूर्ण सघोष व्यञ्जन होता है, और जहाँ घोष उच्चारण पर्यन्त चालू नहीं होता वहाँ व्यञ्जन अपूर्ण सघोष कहलाता है। उदाहरणार्थ 'स' ध्वनि 'ब' ध्वनि अंग्रेजी में अपूर्ण सघोष और हिन्दी में पूर्ण सघोष है।

उच्चारण की दृष्टि से व्यञ्जन के आठ भेद हैं। पीछे की तालिका में इसका स्पष्ट उल्लेख हो चुका है।

उच्चारण में एक चेष्टा होती है। इसे प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। स्वर-तन्त्रियों की समीपता (संवृतता) व दूरी (विवृतता) के कारण वायुवेग की विशेषता या कमी से वर्णों के सघोष, अघोष, महा-प्राण, और अल्पप्राण चार भेद हो जाते हैं। उपरोक्त तालिका में ये चार भेद स्पष्ट कर दिये गये हैं।

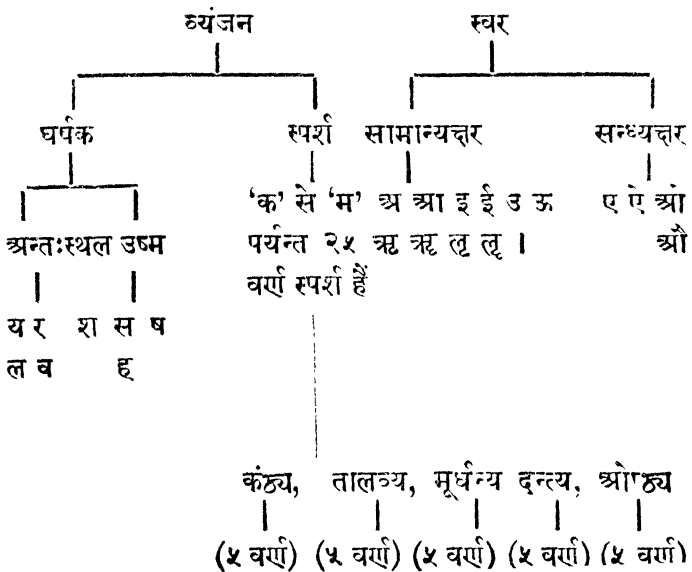
बाह्य प्रयत्न मुख के बाहर (अर्थात् मुख के प्रारम्भ होने से पूर्व तक) होता है, और स्पर्श (क से लेकर म पर्यन्त २५ वर्ण) व घर्षक का भेद मुख के भीतर होने से आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है।

उच्चारण-ध्वनि की आपेक्षिक परिस्फुटता के कारण भी स्वरों और व्यंजनों में भेद हो गया है। स्वर अधिक परिस्फुटता के साथ श्रुतिगोचर होते हैं, व्यञ्जन कम। कहीं-कहीं इस दृष्टि से स्वर और व्यञ्जन में भेद करने में कठिनाई पड़ जाती है। एक स्वर के पीछे ही उससे अधिक परिपष्ट स्वर जब आजाता

हैं, तो पहला स्वर अति ह्रस्व उच्चरित होता है ऐसी दशा में पूर्ववर्ती स्वरों को 'अन्तस्थ' कहा जाता है, और तब ऐसे स्वरों का वर्गीकरण व्यञ्जनों के साथ ही होता है। य, र, ल, व, हिन्दी में अन्तस्थ कहलाते हैं। अंग्रेजी के अन्तस्थों y, i का उच्चारण हमारे 'ई' अक्षर से बहुत कुछ मिलता है, परन्तु उच्चारण में अंग्रेजी y की स्थानीय जर्मन y अधिक घर्षकता रखने से व्यञ्जन के अधिक निकट पड़ती है, इस कारण ऐसे स्थानों में 'य' के स्वरूप की प्रतीति होती है। हिन्दी में भी 'गई' के स्थान में 'गयी' का प्रयोग होता है।

संस्कृत या देवनागरी वर्णमाला दो भागों में बँटी है। ये भाग निम्नतालिका से स्पष्ट हो जाते हैं।

तालिका संख्या ३



ध्वनियों की विशेषता या गुण

(मात्रा, सुर और बलाघात)

ध्वनि में तीन कारणों से विशेषता आती है। बोलते समय मात्रा, सुर और बलाघात इन तीनों गुणों में से किसी न किसी का सहारा लेकर ही ध्वनि उच्चरित होती है। यही कारण है कि इन्हें ध्वनि के गुण कहते हैं।

मात्रा - काल का वह अंश है जो किसी एक ध्वनि के उच्चारण में लगता है। मात्रा के तीन भेद हैं—ह्रस्व या एक मात्रिक, दीर्घ या द्विमात्रिक, प्लुत या त्रिमात्रिक। हिन्दी में प्लुत का प्रयोग नहीं होता।

ह्रस्व-दीर्घ का विवेक भाषा विरोध की उच्चारण-परम्परा के अनुसार रहता है, इसके लिये कोई मुख्य आधार नहीं है। भारतीय वर्ण-विज्ञानियों ने 'अ' और 'इ' का दीर्घ रूप 'आ' व 'ई' माना है। यदि वास्तव में इस भेद के मूल में कोई प्राकृतिक कारण नहीं तो 'इ' को आप कितनी ही देर तक बोलते रहने पर भी 'ई' का सा उच्चारण क्यों नहीं ला सकते। यदि यह भेद कालजन्य ही है, तब अधिक काल तक बोलकर (अ) को 'आ' की ध्वनि क्यों नहीं बना सकते? इससे ज्ञात होता है कि ह्रस्व-दीर्घविवेक के मूल में केवल कालकृत भेद ही नहीं, अपितु प्राकृतिक कारण भी है।

सुर—स्वरतन्त्रियों के ढिलावट व तनाव से सुर उत्पन्न होता है। इसे घोष भी कहते हैं यह तीन प्रकार का होता है—मंद मध्य व तार (उच्च, नीच व सम) आधुनिक युग के भाषा-विज्ञानियों ने इन के लिये क्रमशः, /, \, —. ये चिह्न बना रखे हैं। वैदिकयुग में इन्हें क्रमशः (—\) इन चिह्नों से प्रकट किया

जाता था, और उदात्त*, अनुदात्त, स्वरित नाम से कहा जाता था। आर्य भाषाओं में सुर का अधिक महत्व नहीं रहा। हाँ, वर्तमान आर्य भाषाओं में विधि, निषेध, स्वीकृति, आश्चर्य वितर्क घृणा व संतोष के भाव प्रकट करने में सुर का प्रयोग होता है। चीनी व अफ्रीकी भाषाओं में सुर की प्रधानता है। इन भाषाओं में सुर-भेद से अर्थ-भेद तक हो जाता है। यथा-चीनी भाषा में 'ब' का धीमा उच्चारण करने से 'महिला' अर्थ होता है, और 'ब' का उच्च उच्चारण करने से उमेठना एवं तीव्र उच्चारण करने से राजा का कृपापात्र अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सुर प्रधान भाषाओं में सुर भेद से अर्थ भेद हो जाया करता है।

बलाघात—अक्षर या वर्ण पर जोर देने को कहते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रवाह के अनुसार इसका प्रयोग होता है। बलाघात से भी अर्थ में भेद उत्पन्न हो जाता है। यह ध्वनि का महत्वपूर्ण गुण है। अंग्रेजी में इस गुण का अधिक प्रयोग होता है।

संयुक्त (मिश्र) ध्वनियाँ

भाषा चूंकि ध्वनिसमूह से बनती है इसलिये दो ध्वनियों का पास-पास आकर मिलजाना कोई अजब बात नहीं। ध्वनियों का यह मेल ध्वनियों के प्रकृतिसाम्य के आधार पर ही होता है। प्रत्येक वाक्य में स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार की ध्वनियाँ रहती हैं, परन्तु कौन ध्वनि किस ध्वनि से कब मिल जाया करती है इसे हर व्यक्ति नहा समझ सकता। इसे तो वही जान सकता है जो किसी भाषाविशेष का विशेषज्ञ होता है। संस्कृत में इन ध्वनियों के लिये 'सन्धि' नाम से नियम बने हुए हैं।

* उदात्त के लिये कोई चिन्ह नहीं होता।

जहाँ दो ध्वनियाँ मिलती हैं वहाँ एक तीसरी ही ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। शब्द में भी इस ध्वनि विकार के कारण विकृति उत्पन्न हो जाती है। यथा - गो + एषण = गवेषण। पौ—अकः = पावकः। परन्तु, प्राकृत में प्रायः इसको उल्टी बात देखी जाती है। यहाँ दो से अधिक व्यंजन एक साथ आने ही नहीं पाते थे। आते भी थे तो शब्द के मध्य में आते थे आरंभ या अन्त में नहीं। यथा - दंष्ट्रा = दाढ़ा, पर संस्कृत की परम्परा के विरुद्ध प्राकृत में एक से अधिक स्वर एक साथ पास-पास रह सकते थे। यथा एोउरं = अन्तेउरं आदि। कभी-कभी ये मिश्र ध्वनियाँ शब्द की अमिश्रित आकृति में भी सुनाई देती हैं, यथा—‘पाइसा’ शब्द में। यहाँ ‘अ’-‘इ’ स्वरों में अ का उच्चारण ‘इ’ से पूर्व आता है। ‘अ’ का स्थान मध्य सा ‘व’ का उच्चारण-प्रयत्न अर्द्ध विवृत सा है तथा ‘ई’ का स्थान अग्र और प्रयत्न संवृत सा है। इसका परिणाम यह होता है कि जीभ ‘अ’ से हटकर तुरन्त ‘इ’ पर आती है और उच्चारण ए का हो जाता है। पइसा का पैसा बन जाता है प में जो ‘अ’ था वह ‘इ’ के योग से ‘ए’ बन जाता है, मिश्र या संयुक्त ध्वनियों में इसी कारण स्वरत्व की अल्पता ही मूल आधार रहा करती है, यह एक दृढ़ सिद्धान्त समझना चाहिए।

ध्वनि परिवर्तन या विकास

ध्वनि परिवर्तन या ध्वनि-विकास का इतिहास केवल भूत काल की भाषाओं के बल पर ही खड़ा हो सकता है। किस प्रकार प्राचीन ध्वनियाँ अर्वाचीन भाषाओं में आकर बदल जाती हैं, यह समझने के लिये हमें पाछे ही देखना पड़ता है। वास्तव में भाषा-विकास के साथ-साथ ध्वनियों में भी विकास होता है। भाषा विकास के प्रमुख कारण हैं—ऐतिहासिक संघर्ष, मानसिक संघर्ष,

जाता था, और उदात्त*, अनुदात्त, स्वरित नाम से कहा जाता था। आर्य भाषाओं में सुर का अधिक महत्व नहीं रहा। हाँ, वर्तमान आर्य भाषाओं में विधि, निषेध, स्वीकृति, आश्चर्य वितर्क घृणा व संतोष के भाव प्रकट करने में सुर का प्रयोग होता है। चीनी व अफ्रीकी भाषाओं में सुर की प्रधानता है। इन भाषाओं में सुर-भेद से अर्थ-भेद तक हो जाता है। यथा-चीनी भाषा में 'ब' का धोमा उच्चारण करने से 'महिला' अर्थ होता है, और 'ब' का उच्च उच्चारण करने से उमेठना एवं तीव्र उच्चारण करने से राजा का कृपापात्र अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सुर प्रधान भाषाओं में सुर भेद से अर्थ भेद हो जाया करता है।

बलाघात—अक्षर या वर्ण पर जोर देने को कहते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रवाह के अनुसार इसका प्रयोग होता है। बलाघात से भी अर्थ में भेद उत्पन्न हो जाता है। यह ध्वनि का महत्वपूर्ण गुण है। अंग्रेजी में इस गुण का अधिक प्रयोग होता है।

संयुक्त (मिश्र) ध्वनियाँ

भाषा चूंकि ध्वनिसमूह से बनती है इसलिये दो ध्वनियों का पास-पास आकर मिलजाना कोई अजब बात नहीं। ध्वनियों का यह मेल ध्वनियों के प्रकृतिसाम्य के आधार पर ही होता है। प्रत्येक वाक्य में स्वर और व्यंजन दोनों प्रकार की ध्वनियाँ रहती हैं, परन्तु कौन ध्वनि किस ध्वनि से कब मिल जाया करती है इसे हर व्यक्ति नहा समझ सकता। इसे तो वही जान सकता है जो किसी भाषाविशेष का विशेषज्ञ होता है। संस्कृत में इन ध्वनियों के लिये 'सन्धि' नाम से नियम बने हुए हैं।

* उदात्त के लिये कोई चिन्ह नहीं होता।

जहाँ दो ध्वनियाँ मिलती हैं वहाँ एक तीसरी ही ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। शब्द में भी इस ध्वनि विकार के कारण विकृति उत्पन्न हो जाती है। यथा - गो + एषण = गवेषण। पौ—अकः = पावकः। परन्तु, प्राकृत में प्रायः इसको उल्टी बात देखी जाती है। यहाँ दो से अधिक व्यंजन एक साथ आने ही नहीं पाते थे। आते भी थे तो शब्द के मध्य में आते थे आरंभ या अन्त में नहीं। यथा - दंष्ट्रा = दाढ़ा, पर संस्कृत की परम्परा के विरुद्ध प्राकृत में एक से अधिक स्वर एक साथ पास-पास रह सकते थे। यथा एोउरं = अन्तेउरं आदि। कभी-कभी ये मिश्र ध्वनियाँ शब्द की अमिश्रित आकृति में भी सुनाई देती हैं, यथा—‘पाइसा’ शब्द में। यहाँ ‘अ’-‘इ’ स्वरों में अ का उच्चारण ‘इ’ से पूर्व आता है। ‘अ’ का स्थान मध्य सा ‘व’ का उच्चारण-प्रयत्न अर्द्ध विवृत सा है तथा ‘ई’ का स्थान अग्र और प्रयत्न संवृत सा है। इसका परिणाम यह होता है कि जीभ ‘अ’ से हटकर तुरन्त ‘इ’ पर आती है और उच्चारण ए का हो जाता है। पइसा का पैसा बन जाता है प में जो ‘अ’ था वह ‘इ’ के योग से ‘ए’ बन जाता है, मिश्र या संयुक्त ध्वनियों में इसी कारण स्वरत्व की अल्पता ही मूल आधार रहा करती है, यह एक दृढ़ सिद्धान्त समझना चाहिए।

ध्वनि परिवर्तन या विकास

ध्वनि परिवर्तन या ध्वनि-विकास का इतिहास केवल भूत काल की भाषाओं के बल पर ही खड़ा हो सकता है। किस प्रकार प्राचीन ध्वनियाँ अर्वाचीन भाषाओं में आकर बदल जाती हैं, यह समझने के लिये हमें पाछे ही देखना पड़ता है। वास्तव में भाषा-विकास के साथ-साथ ध्वनियों में भी विकास होता है। भाषा विकास के प्रमुख कारण हैं—ऐतिहासिक संघर्ष, मानसिक संघर्ष,

राजनैतिक संघर्ष, व आर्थिक संघर्ष । इन्हीं संघर्षों में पड़कर भाषा की परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, नई ध्वनियाँ भाषा में आजाती हैं । फारसी-अंग्रेजी के प्रभाव से प्रभावित कई ध्वनियाँ आज हिन्दी में इसी प्रकार के संघर्षों का परिणाम हैं । ध्वनि-विकास के कारण कभी-कभी ध्वनि व अर्थ भिन्न रहते हुए भी शब्दों में साम्य हो जाता है परन्तु, अर्थ में फिर भी भिन्नता ही रहती है । यथा—‘काज’ और ‘काज’ में दो भिन्न सभ्यताओं के सम्पर्क से ध्वनि साम्य हो गया और दोनों का उच्चारण ‘काज’ रह गया तब भी एक काज का अर्थ ‘बटन का छेद,’ और दूसरे का अर्थ ‘कार्य’ किया जाता है । अंग्रेजी में भी इस प्रकार के उदाहरण बहुत हैं—यथा ‘सन्’ शब्द । Sun सन् का अर्थ है सूर्य और Son सन् का बेटा ।

रूप विचार

(पद—रचना)

[सम्बन्धावयव (समन्धतत्त्व) और अर्थावयव
(अर्थतत्त्व) के आधार पर]

नियमानुसार रूपविचार में केवल शब्दों की विभक्तियों और उनके साधन रूप शब्दों का विचार होना संगत है, परन्तु, साधारणतया रूप-विचार व्याकरण का पर्याय बन गया है । व्याकरण के मुख्य दो भाग हैं—शब्दसाधन और वाक्य-विचार । शब्द साधन से पद रचना का सम्बन्ध है । जिस पद में अर्थ के उद्बोध करने की शक्ति नहीं होती उसे शब्द कहते हैं । जब यही शब्द वाक्य में भाषा की पद्धति-परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) व अर्थतत्त्व (अर्थावयव) के अलग-अलग या सम्मिलित अर्थ का बोध कराता है तब इसे पद कहते हैं । प्रत्येक भाषा में, भाषाविशेष की

परम्परा के अनुसार पद का लक्षण मानना पड़ेगा। पर, साधारण रूप से उपर्युक्त लक्षण सभी भाषाओं के पदों पर लागू हो सकता है।

ध्वनि-समूह का नाम वाक्य है। वाक्य भाषा का अवयव है, भाषा वाक्यों का समूह है। ध्वनि-समूह के भी छोटे-छोटे समूह होते हैं। ये समूह उच्चारण व अर्थव्यञ्जकता की सुविधानुसार बनते हैं। उच्चारण की दृष्टि से जो समूह बनते हैं उनकी जानकारी ध्वनि-विज्ञान से प्राप्त होती है, एवं अर्थ व्यञ्जकता की दृष्टि से बनने वाले ध्वनि-समूह की जानकारी पद-रचना-विज्ञान (रूप-विचार) के द्वारा होती है। साधारणतया पूरे वाक्य का आकार बोलने वाले के मस्तिष्क में रहता है। यही वाक्य ध्वनि के द्वारा निकल कर अन्य लोगों के समझने की वस्तु बनता है।

कभी मस्तिष्क में वाक्य का आकार या प्रतिमा कुछ रहती है, और उच्चारण कुछ और ही हो जाता है। इस अव्यवस्था का कारण है प्रयत्न लाघव। यथा पम्प में हवा भरदी, या उँगली में कान मत कर। शीघ्रतावश पूरे शब्दों को न बोल, हम शब्दांश को ही कहकर काम चला लेना चाहते हैं तभी यह अव्यवस्था होती है। वाक्य में कभी-कभी एक, और कभी-कभी कई पद रहते हैं, परन्तु वाक्य में चाहे कितने ही पद रहें सब का अर्थ समष्टिरूप में ग्रहण होता है। वाक्य का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसमें दो प्रकार के तत्त्व मिल रह कर अर्थ व्यक्त करते हैं। एक तो वह तत्त्व जो अर्थतत्त्व (अर्थावयव) का बोध कराता है, और दूसरा वह जो अर्थ तत्त्व के परस्पर सम्बन्ध का। यह दूसरा तत्त्व सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) कहलाता है। यथा 'राम की गाय सुन्दर है' इस वाक्य में राम व सुन्दर अर्थतत्त्व हैं, और 'की' वाक्य में आये हुए ध्वनिसमूह का

परस्पर सम्बन्ध बतलाने के कारण सम्बन्ध तत्त्व है। प्रत्येक भाषा में विचारों को व्यक्त करने की कुछ धाराएँ बन जाती हैं। इन धाराओं में सामाजिक प्रभाव पड़ने से कुछ हेर-फेर भी हुआ करते हैं। यथा संस्कृत बोलने वालों की विचार धारा एक प्रवाह से चलती थी, पाली व प्राकृत आदि की धाराएँ धीरे-धीरे बदलती चली गई। चीनी का प्रवाह दूसरा है तो अरबी का दूसरा ही।

भाषाओं की विचार धाराओं के इसी अन्तर को समझने के लिये सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) की आवश्यकता पड़ती है। सम्बन्धतत्त्वों के प्रकट करने के ढंग से ज्ञात हो जाता है कि कौन भाषा किम् प्रकार सम्बन्धतत्त्वों का प्रयोग करती है। साधारणतया सुविधा के लिये सम्बन्धतत्त्वों के प्रयोग को ६ प्रकारों में बाँट दिया गया है:—

- १—अलग शब्द के रूप में। यथा संस्कृत के 'इति', 'एवं' 'अपि' और हिन्दी के से, का, को, में, पर, तब, जब आदि।
- २—अर्थतत्त्व के साथ जोड़कर। यथा संस्कृत का 'अगच्छन्' हिन्दी में करना, करवाना (प्रेरणार्थ में), 'आनी' स्त्री प्रत्यय यथा पंडित से पंडितानी इत्यादि। इस उपाय का अवलम्बन प्रायः सभी भाषाओं में प्रचुर मात्रा में है। जहाँ अर्थतत्त्व तीन मात्राओं के होते हैं, सम्बन्धतत्त्व प्रायः उनमें आगे, पीछे या बीच में लगते हैं। यथा अरबी में व, ल, द से वल्द, वालिद, तवल्लुद आदि।
- ३—अर्थतत्त्व की ध्वनियों में कुछ परिवर्तन करके भी सम्बन्ध का प्रयोग होता है। यथा-शृंग अर्थतत्त्व है, इससे शाङ्ग (अर्थात् सींग से बनी वस्तु) यह अर्थ हो जाता है।
- ४—अर्थतत्त्व में मात्रा, सुर या बलाघात के द्वारा भी सम्बन्ध तत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है। यथा—रे-कार्ड

(क्रिया) रेकार्ड (संज्ञा) ।

५—विरामचिह्नों से भी सम्बन्धतत्त्व का काम लिया जाता है ।

यथा—कर, चल, जा, में आज्ञा के अर्थ का बोध होता है ।

और ६—वाक्य में शब्द की स्थान स्थिति से कभी २ (सम्बन्धावयव) सम्बन्धतत्त्व का बोध कराया जाता है ।

इस प्रकार सम्बन्धतत्त्वों (सम्बन्धावयवों) को प्रकट करने के भिन्न-भिन्न प्रकारों से भाषाओं की रचना-शैली भी भिन्न २ हो गई हैं । कहीं २ अर्थतत्त्व (अर्थावयव) व सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) ऐसे मिले जुले रहते हैं कि एक ही शब्द दोनों तत्त्वों का बोध करा देता है । प्राचीन आर्य भाषाएँ व सामी भाषाएँ अधिकांश में इसी प्रकार की हैं । कहीं-कहीं एक से अधिक शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध करा देते हैं । यथा हिन्दी में 'यदि तो' का प्रयोग ऐसा ही है ।

शब्द में प्रत्यय जोड़ कर जब इसे वाक्य में व्यवहार के योग्य बना लिया जाता है तो यही 'पद' कहलाने लगता है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सिद्ध शब्द ही पद कहलाता है, और असिद्ध रूप में उसीकी संज्ञा 'शब्द' होती है ।

ध्वन्यात्मक शब्द का एक साथ ही उच्चारण हो सकता है, परन्तु, व्याकरणात्मक* शब्द सुविधानुसार अर्थ के अनुसार छोड़ा भी जा सकता है ।

पद-विकास

पहिले वस्तु का और फिर धीरे-धीरे अनुभव के साथ-साथ वस्तु से भिन्न, गुण का भी बोध होने लगता है । वाक्य द्वारा जाने वाले अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा में किन्हीं धाराओं में

होता है जो स्वाभाविक और सर्व साधारण हो जाती हैं। इन धाराओं का निर्धारण विशिष्ट सम्बन्धतत्त्वों (सम्बन्धावयवों) द्वारा ही हाता है। लिङ्ग, वचन, कारक और पुरुष (उत्तम, मध्यम व अन्य) काल, प्रश्न तथा निषेध आदि के भाव सम्बन्धावयवों (सम्बन्ध तत्त्वों) के द्वारा हो जतलाए जाते हैं। यहाँ संक्षेप में लिङ्ग वचनादि का कुछ परिचय दिया जाता है।

लिङ्ग

व्याकरण के अनुसार शब्दों में तीन लिङ्ग होते हैं—

क—पुलिङ्ग

ख—स्त्रीलिङ्ग

और ग-नपुंसकलिङ्ग। याद रखना चाहिये कि इन लिङ्गों का नैसर्गिक पुंस्त्व व स्त्रीत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत में स्त्रीवाचक शब्द पुलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं। यथा दाराः पुं०, महिला स्त्रीलिङ्ग व कलत्रं नपुंसक लिङ्ग है। भिन्न २ स्त्री वाचक शब्द भिन्न २ लिङ्गों में प्रयुक्त हो रहे हैं।

मुँडा भाषा में पुलिङ्ग व स्त्रीलिङ्ग का भेद ही नहीं है। स्त्रीत्व व पुंस्त्व का भेद जानने के लिये मुँडा में फारसी की भाँति 'नर' या 'मदा' जोड़ कर स्त्रीत्व या पुंस्त्व का भाव प्रकट किया जाता है।

इससे सिद्ध है कि नैसर्गिक स्त्रीत्व या पुंस्त्व का लिङ्गों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान भाषाओं के लिङ्ग को खोजते खोजते हम प्राचीनतम भाषाओं तक पहुँच जाते हैं। हिन्दी, गुजराती व अन्य भारतीय भाषाओं के लिङ्ग हमें संस्कृत से ला मिलाते हैं। इस प्रकार के विवेचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि आरंभ में लिङ्गों का प्रयोग गुण कर्म के अनुसार ही चला होगा। और यही कारण है कि संस्कृत का दाराः शब्द स्त्री की गृह-कार्य-दक्षता देखकर ही पुलिङ्ग माना गया होगा। इसी

प्रकार अन्य शब्दों का भी लिङ्ग-निर्णय हुआ होगा। जहाँ जड़ता का लक्षण दीखा होगा वहाँ नपुंसक, और जहाँ कोमलता का अनुभव हुआ होगा वहाँ स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाने लगा होगा। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह लिङ्ग-भेद कोई तथ्य नहीं रखता और हटाया भी जा सकता है।

संस्कृत में प्रायः शब्दान्त के विचार से लिङ्ग-निर्णय होता है, जिसका विवेचन पाणिनि के लिङ्गानुशासन में किया गया है।

वचन

आदिम भारोपीय (भारत व यूरोपीय) भाषाओं में तीन वचन थे—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन। पहिले द्विवचन का प्रयोग केवल उन वस्तुओं के लिये ही होता था जिनका नैसर्गिक युग्म होता है। यथा-हाथ, पाँव, आँख, कान, इत्यादि धीरे-धीरे किन्हीं दो वस्तुओं के लिये भी द्विवचन का प्रयोग चल निकला। संसार की अन्य भाषाओं का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि अधिकतर भाषाओं में एक व बहुवचन को व्यक्त करने का प्रबन्ध है। लिथुएनियन भाषा में अब भी संस्कृत की भाँति द्विवचन मिलता है। एफ्रीका की कुछ भाषाओं में तो त्रिवचन तक का रूप प्राप्त होता है। इन वचनों के अतिरिक्त कई भाषाओं में व्यक्ति और समूह को अलग-अलग व्यक्त करने के साधन भी हैं। यथा 'गण' शब्द जोड़कर समूह का ज्ञान करा दिया जाता है। कहीं वेद अर्थात् ४, ऋषि अर्थात् ७ इस प्रकार भी संख्या या समूह से भी वचन का ज्ञान कराया जाता है। संस्कृत का द्विवचन पाली, प्राकृत एवं हिन्दी में आकर लुप्त हो गया है।

काल

अभ्ययन बतलाता है कि काल के विचार में उत्तरोत्तर स्पष्टता

आती गई है। अब वह जितना स्पष्ट जान पड़ता है उतना पहिले समय की भाषाओं में न था। काल तीन हैं—वर्तमान, भूत, भविष्यत्। संस्कृत में भूतकाल के तीन रूप हैं—अनद्यतन, परोक्ष और सामान्य। वर्तमान भाषाओं में काल-प्रक्रिया को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि वर्तमान के रूप तो असंदिग्ध हैं, पर अन्य कालों के नहीं। भविष्य का ज्ञान अन्य धातु जोड़ कर ही कराया जाता है। यथा—‘शैल’ या ‘विल’ जोड़ कर अंग्रेजी में भविष्य का रूप बनाया जाता है, हिंदी में ‘गा, गी, गे’ अंग्रेजी के ‘शैल’ या ‘विल’ की जगह जोड़ कर ‘भविष्यत् काल’ बनाया जाता है। इसी प्रकार भूतकाल का भी कोई पक्का आधार नहीं है। वास्तव में तो मानव-जीवन में वर्तमान ही निश्चित काल है।

प्रेरणार्थक क्रिया

संस्कृत में क्रिया के काल पर अधिक ध्यान न था, बल्कि उसके प्रकार पर विशेष विचार था। कर्त्ता स्वयं कोई कार्य करता है या किसी से कराता है, इन दोनों के लिये दो रूप हैं। यथा—गच्छति, स्वयं जाता है, और ‘गमयति’ गच्छति का प्रेरणार्थक रूप हैं। हिन्दी में यथा ‘पढ़ना’ का ‘पढ़वाना’ प्रेरणार्थक रूप है। संस्कृत में धातुओं को दस वर्गों में बांटा है। इन वर्गों या भागों को गण कहते हैं।

वाच्य

संस्कृत में तीन वाच्य हैं—कर्त्ता, कर्म और भाव। जहाँ कर्त्ता पर बल होता है वहाँ कर्त्तृवाच्य, जहाँ पर कर्म पर बल हो वहाँ कर्मवाच्य और जहाँ भाव पर बल हो वहाँ भाववाच्य होता है।

पद

संस्कृत की धातुएँ दो पदों में बँटी है—आत्मनेपद व

परस्मैपद । कर्त्ता को जहाँ स्वयं को क्रिया का फल मिलता है वहाँ आत्मनेपद, और जहाँ क्रिया का फल दूसरे को मिले, वहाँ परस्मैपद होता है ।

वृत्ति

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में आशीर्लिङ्ग, विधिलिङ्ग व आज्ञा आदि विभिन्न वृत्तियों के लिये भिन्न-भिन्न रूप थे, किन्तु हिन्दी में यह विभिन्नता प्रायः नष्ट हो चुकी है । अंग्रेजी में यद्यपि कई वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, तब भी बहुधा वर्तमान काल से ही सभी काम चलाया जाता है ।

विभक्ति

संज्ञा, सर्वनाम व विशेषण के भिन्न-भिन्न रूपों को विभक्ति कहते हैं । संस्कृत में सात विभक्तियाँ हैं । सम्बोधन एक प्रकार की प्रथमा विभक्ति ही है । इन सात विभक्तियों के स्थान में हिन्दी में केवल दो ही विभक्तियाँ हैं, विकारी और अविकारी, अर्थात् एक ऐसी जिसका मूलरूप जैसा का तैसा रहता है, और दूसरी वे जिनका रूप विकृत हो जाता है । यथा:—

<u>अविकारी</u>	<u>विकारी</u>
खिलौना	खिलौने
मैं	मुझे, मुझ, मेरा
गाय	गायें
बेटा	बेटों

कारक

उपर्युक्त विभक्तियों का जब क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है तब उन्हीं को कारक कहते हैं । यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का सम्बन्ध न हो तो उसे कारक नहीं कहेंगे, यथा षष्ठी

विभक्ति को सम्बन्ध कारक नहीं माना जाता। सम्बन्ध तत्त्वों द्वारा व्यक्त की गई, और व्याकरण द्वारा लक्षित इन धाराओं का जितना ही सूक्ष्मता से हम विचार करते हैं, उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि ये धाराएँ न तो नैसर्गिक हैं, न तर्कसिद्ध ही।

हर भाषा में अलग-अलग कुछ ऐसी अपनी धाराएँ होती हैं जिनको उस भाषा के बोलने वाले ही समझ सकते हैं। भाषा की ये धाराएँ संघठित समाज से ही उठती हैं, और जब किसी विशेष धारा से समाज उकता जाता है तो उसमें परिवर्तन होने लगता है। इसी प्रकार पद-विकास का क्रम प्रत्येक भाषा में चालू रहता है।

शब्द (पद) के भेद और व्याख्या

भिन्न-भिन्न भाषाओं के वैयाकरणों ने शब्दों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। यही कारण है, शब्द के भेदों की संख्या १० तक पहुँच गयी है। भारत ने प्राचीन काल में इसके तीन भेद किये थे—नाम, आख्यात, और निपात। पर आजकल इन्हीं को संज्ञा, क्रिया, और अव्यय नाम से प्रकट किया जाता है। संज्ञा में विशेषण व सर्वनाम का अन्तर्भाव भी हो जाता है। अंग्रेजों आदि पाश्चात्य भाषाओं में शब्द के आठ भेद किये हैं:—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण ये तो पहिले से ही हैं। अव्ययों के भी अब चार विभाग कर लिये गये हैं—क्रियाविशेषण, समुच्चयबोधक, संबंध-बोधक, और विस्मयादि-बोधक।

संस्कृत वैयाकरणों द्वारा की हुई पद-विवेचना अधिक तर्कपूर्ण है। आर्य भाषाओं में संज्ञा और क्रियाओं में मौलिक भेद रहता आया है। आर्य भाषाओं में संज्ञाओं के निर्माण में 'सुप्' और क्रियाओं के निर्माण में 'तिङ्' प्रत्यय होते हैं। सामी

भाषाओं में, किन्तु, ऐसा निश्चयात्मक भेद नहीं मिलता ।

विशेषण और संज्ञाओं का विकास प्राचीन आर्य भाषाओं में साथ-साथ हुआ ज्ञात होता है, और इनका भेद वैदिक भाषा में सुरविभिन्नता से जाना जाता है ।

भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि पहिले व्यापारात्मक वाक्य चलते थे, धीरे-धीरे इनका स्थान संज्ञात्मक वाक्यों ने लिया हागा । संस्कृत में महाभारत-काल से ही तिङन्त पदों का प्रयोग कम और संज्ञात्मक वाक्यों का अर्थात् शतृ, शानच् क्त, और क्तवत्, प्रत्ययों वाले पदों का अधिक प्रयोग होने लगता था । इस प्रकार के उदाहरण केल्टी भाषा में भी पाये जाते हैं । केल्टी के तुमन्त रूप तिङन्त रूपों को दबाते चलते हैं । तुमन्त, और क्तादि प्रत्ययों में अन्त होने वाले पद अंशतः संज्ञा और अंशतः क्रिया के भाव वाले होते हैं । यथा—

गाना 'गाने में' जोर से बोलना पड़ता है ।

गाना 'गाते' समय कोई कोई बहुत हिलता है ।

यहाँ 'गाने' 'गाते' पदों का संज्ञा के समान रूप है, पर अर्थ क्रिया का व्यक्त होता है ।

इस विवेचन से परिणाम यह निकलता है कि संज्ञाओं के मूल में क्रिया ही छिपी हुई है । क्रिया पदों से ही संज्ञापद बनते हैं ।

यथा—'रदन' क्रिया का अर्थ फाड़ना है इससे रद (दांत) संज्ञा पद बन गया है ।

'सर्प'—रँगना क्रिया का द्योतक है, इससे सांप एक कीड़े विशेष का यह शब्द द्योतक बन गया है ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आर्य भाषाओं में संज्ञा-क्रिया का प्रकट भेद जो कुछ है वह असल में कुछ भी नहीं है । क्रिया संज्ञा से और संज्ञा विशेषण से मिली हुई चलती है ।

पद-विकास के कारण

भाषा के विकास में दो धाराएँ हैं:- ध्वनि सम्बन्धी विकास, और पद सम्बन्धी विकास। पद सम्बन्धी विकास भाषाओं की रचनाकृति में समता लाने की चेष्टा से अथवा शब्दों की अनेकरूपता को स्थिर रखने की ममता से होता है। भाषा के विकास और स्वरूप को समझने के लिये पद-विकास को समझना बड़ा आवश्यक है। पद (शब्द) प्रकृति और प्रत्यय के याग से बनता है। प्रकृति-प्रत्यय के भेद से हम को शब्दों की इयत्ता के निश्चय करने में सरलता पड़ती है। किसी शब्द के मूल अंश को 'प्रकृति' और उसके साधक अंश को 'प्रत्यय' कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में इसका उदाहरण Cost, Costly, Costing है। Cost मूल शब्द है अतः प्रकृति है और lying, साधक अंश होने से प्रत्यय हैं। इसी प्रकार संस्कृत में 'चलति', 'चलसि', 'चलितुम्' और 'चलितव्यम्' इत्यादि उदाहरणों को जानना चाहिये। इनमें ति, सि, तुम् आदि प्रत्यय हैं।

जिस भाषा में जिस प्रकार के शब्द अधिक होते हैं, उसके बोलने वालों के अभ्यास में वैसे ही शब्द पक्के होजाते हैं। यथा-संस्कृत में अकारान्त संज्ञाएँ अधिक हैं। इसी से संस्कृत बोलने वालों के अभ्यास में अकारान्त संज्ञाओं के रूप ही अधिक जमे रहते हैं। अन्य इकारान्त, उकारान्त, व्यंजनान्त शब्द कम। वक्ता अपने अभ्यासानुसार शब्दों में एकरूपता लाना चाहता है, परिणामस्वरूप, पदों में विकास होता चलता है। यथा संस्कृत के 'गमिष्यति' के स्थान पर प्राकृत में गच्छिस्सति का प्रयोग। यद्यपि संस्कृत में 'गच्छ' और 'गम' एक ही भाव के दो-दो रूप मिलते हैं, किन्तु, प्राकृतों में दोनों के स्थान पर एक रूपता लाने के लिये एक ही रूप मिलता है।

हिन्दी में भी इस प्रवृत्ति के बहुत से उदाहरण हैं। यथा—

‘तोड़ना’ से प्रेरणार्थक ‘तुड़वाना’ ‘मारना’ का अकर्मक मरना अथवा ‘राजा’ का विहारी भाषा का बहुवचन का रूप ‘राजे’ ।

इस प्रकार पद-विकास के मूल में सादृश्य की भावना काम करती है । सादृश्य का खिलवाड़ कई रूपों का बदल देता और कई को नष्ट कर देता है । यथा—संस्कृत के प्रथमा व द्वितीया के बहुवचन रूप ‘पुत्राः’ और ‘पुत्रान्’ थे, प्राकृतों में ‘पुत्ता’ और ‘पुत्ते’ हांगये । संस्कृत के समस्त पद, पद-विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं । धीरे-धीरे समस्त पदों का इतना विकास होजाता है कि उनके मूल रूप में कौनसे-कौनसे दो शब्द रहे थे । यह भी पता नहीं चलता । यथा, हिन्दी का सौत (सपत्नी) ‘सोना’ (स्वर्ण) ‘साढ़े’ (साढ़) से पता नहीं चलता कि इन शब्दों में किन-किन शब्दों का योग हुआ है । सम्बन्धतत्त्व का बोध कराने वाले उपसर्ग पद-विकास का और भी जीवित उदाहरण हैं । यथा ‘में’ (मध्य) ‘का’ (कृत) आदि-आदि । इनका विकास होते-होते मध्य से ‘में’ और कृत से ‘का’ रूप हो गये हैं ।

अर्थविवेक (अर्थ-विचार)

अर्थविवेक (अर्थ-विचार) का विषय भाषा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा सिद्धान्त प्रतिपादन करता है । किसी भाषा में भाव व विचार किन-किन साधनों से अभिव्यक्त होते हैं, एक शब्द का रूप अनेक अर्थों का बोध कराने में क्यों समर्थ होता है, एक अर्थ कितने भिन्न-भिन्न रूपों में आता है ये ही सब विषय अर्थविचार के क्षेत्र में आते हैं ।

अर्थ-विचार के विषय का अध्ययन बड़ा रोचक है । बालक जब बोलना आरम्भ करता है तो अक्षरात्मक या एकाक्षर शब्द या वक्य का उच्चारण करता है । उसके गां, गूं, आं, ऊ, एं आदि एक-एक अक्षर में एक-एक पूरे वाक्य का भाव होता है,

जिसे वह अपने तक ही सीमित रखता है। धीरे-धीरे वह अपनी इन अन्तरात्मक ध्वनियों से अर्थ का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। बालक की बुद्धि परिपक्व न होने से अर्थ-बिम्ब उसके मस्तिष्क में स्थाई नहीं होने पाता। शब्दों का अर्थ अनुभव के साथ बदलता रहता है, और बालक का अनुभव सीमित रहता है अतः अर्थ बालक के मस्तिष्क में जमने नहीं पाता। अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि से है। बुद्धि का अनुभव से और अनुभव का शब्दार्थ से। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है उसका अनुभव भी प्रौढ़ होता जाता है। अनुभव के साथ-साथ उसके अर्थ-क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। यथा-एक ग्रामीण बालक पहिले सेंटे की लेखनी को ही समझता है, परन्तु, पीछे निब लगी कलम व फउएटेन पेन तक को इसी 'कलम' शब्द से या 'लेखनी', शब्द से समझ लेता है।

किसी शब्द के अर्थ की सीमा निश्चित करना कठिन काम है। एक शब्द कई अर्थ देता है। यथाऋग्वेद में 'असुर' शब्द देव-वाचक है। ईरानी का 'अहुर' शब्द भी इसी अर्थ में है। किन्तु, पीछे की संस्कृत में यह शब्द राक्षस वाचक हो गया है। प्रायः देखा जाता है कि जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में लिये जाते हैं तो सामाजिक वातावरण के कारण उनके अर्थों में परिवर्तन हो ही जाता है। यथा हिन्दी का 'गिलास' दर्पण के अर्थ में न आकर पात्र के अर्थ में आने लगा है। एक समाज में दैनिक प्रयोग के व्यावहारिक शब्द दो प्रकार से चलते हैं। यथा 'कलम' शब्द माली के यहाँ दूसरा अर्थ देता है, और लेखक के यहाँ दूसरा।

विज्ञान के पंडित ब्रील महोदय ने अर्थ-विकास की तीन मुख्य दिशाएँ मानी हैं—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्था-देश। बा० श्यामसुन्दरदास ने इस विषय में कुछ नियम लिखे

हैं। इन्हें बौद्धिक नियम कहते हैं, और वे ये हैं :—१-विशेष भाव का नियम, २-भेदीकरण का नियम, ३-उद्योतन का नियम, ४-विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम, ५-मिथ्या प्रतीति का नियम, ६-उपमान का नियम, ७-नये लाभ का नियम व, ८-अनुपयोगी रूप के नाश का नियम। पुनः शब्दों के अर्थों के घटने-बढ़ने के लिये भी उन्होंने कुछ नियमों का आश्रय लिया है। वे ये हैं :—१ अर्थात्कर्ष, २-अर्थापदेश, ३-अर्थोत्कर्ष, ४-अर्थसंकोच, ५-अर्थ-विस्तार, ६-रूपक, ७-अनेकार्थकता, आदि। परन्तु, संक्षेप से अर्थ-विकास की ये तीन ही दिशाएँ हैं:—

१ अर्थ-विस्तार, २ अर्थ संकोच, और ३ अर्थदेश।

अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य को अर्थ-विस्तार कहते हैं। पहिले वस्तुओं के नाम विराष गुणों के आधार पर ही रखे जाते हैं, फिर धीरे २ उनका रूढ़ अर्थ सामने रह जाता है, और यौगिक अर्थ विस्मृत हो जाता है। ऐसी दशा में यही अर्थ आवश्यकता पड़ने पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है—उसमें विस्तार हो जाता है। यथा हिन्दी में 'स्याही' का मूल अर्थ है काली पर अब उसका विकास या विस्तार यहाँ तक हो गया है कि लाल पीली नीली कैसी ही रंग की क्यों न हो सबके साथ स्याही शब्द का योग हो गया है। नीली स्याही, काली स्याही, लाल स्याही, इत्यादि। इसी प्रकार 'तैल' शब्द भी है। तिल का सार 'तैल' होता है। पर अब तो बादाम का तैल, सरसों का तैल, अंडी का तैल सभी के साथ 'तैल' शब्द का प्रयोग होने लगा है।

अर्थ-विस्तार के विपरीत भाव को ही अर्थ संकोच कहते हैं। अर्थ-संकोच सभ्यता का द्योतक है। प्रो० ब्रैल ने लिखा है जो लोग जितने ही सभ्य होते हैं उनके यहाँ उतना ही अर्थ संकोच रहता

है। यथा—एक ही ‘गोली’ का सिपाही, वैद्य, दरजी व खिलाड़ी के साथ भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाता है। परन्तु, अब गोली का अर्थ-संक्षुचित होकर ‘दवा’ के ही अर्थ में रह गया है। पहिले जो शब्द पूरी जाति के लिये प्रयुक्त होते थे वे अब केवल एक वर्ग मात्र के बोधक रह गये हैं—उनके अर्थों में संकोच आ गया है। यथा—‘मृग’ ऋग्वेद में पशु मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है (देखिये—मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः)। पर अब ‘मृग’ का अर्थ केवल ‘हरिण’ के अर्थ का ही द्योतन करता है।

कभी-कभी देखा जाता है कि एक शब्द का पूर्व अर्थ बिलकुल ही बदल कर एक अन्य ही अर्थ देने लगता है। ऐसी दशा का नाम ‘अर्थादेश’ की स्थिति है। यथा पहले ‘दुहितृ’ शब्द का अर्थ दुहने वाली था, परन्तु अब इसका अर्थ बिलकुल ही बदल गया है, और ‘बेटी’ ‘दुहिता’ या ‘कन्या’ के अर्थ में इसका प्रयोग होता है।

इस प्रकार अर्थों के परिवर्तनों के मूल में मनोविज्ञान का भी बहुत बड़ा हाथ है। समाज में एक प्रवृत्ति देखी जाती है कि बहुधा लोग अशुभ सूचक और जुगुप्सित शब्दों को बचाकर दूसरी तरह उनके भाव को प्रकट कर दिया करते हैं। यथा ‘मरण’ को ‘स्वर्ग गमन’ कह कर जनाते हैं। ‘वैधव्य’ के भाव को ‘चूड़ी फूटना’ कह कर प्रकट करते हैं। भारतीय ललनाएँ पति का नाम न लेकर अपने सम्बन्ध की भावना को लाला के बाबू, पंडित जी, प्राफेसर साहब, बाबूजी आदि कहकर प्रकट करती हैं। इन सब शब्दों का और इनके अर्थों का प्रादुर्भाव मनोविज्ञान की परम्परा से प्राप्त शक्ति के द्वारा होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि शब्दों के अर्थ, शिष्टाचार व आदर के कारण भी बदल जाते हैं। यथा, ब्राह्मण शब्द से पढ़े-लिखे ब्राह्मण का भान होता है, और बाम्हन से मूर्ख ब्राह्मण का। अर्थ

विकास के अध्ययन से इतिहास की ओर भी पर्याप्त सहायता मिलती है। देव, असुर आदि शब्द ऐसे हैं जो उस काल के-जिसमें वे व्यवहृत होते थे-इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं।

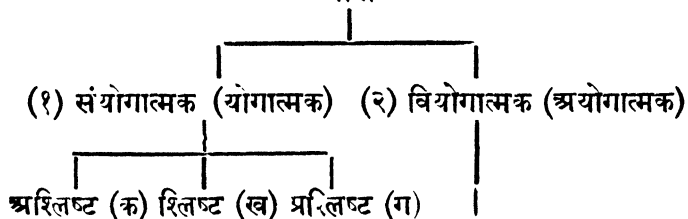
भाषाओं का वर्गीकरण *

भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनमें दो प्रकार की समता हो सकती है। एक सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्त्व) की और दूसरी अर्थावयव (अर्थतत्त्व) की। सम्बन्धतत्त्व की समता का उदाहरण—करना, जाना, खाना, पीना, सीना, में 'ना' प्रत्यय की समता है। यह 'ना' प्रत्यय एक ही सम्बन्धतत्त्व का बोध कराता है। इसके विपरीत खाना, खाया, खाता है, खायेगा आदि में सम्बन्धतत्त्व भिन्न-भिन्न है, पर अर्थतत्त्व की समता है। 'खाना' क्रिया के ही ये भिन्न २ रूप व प्रयोग हैं। क्रिया के अर्थ में बदल नहीं हुआ है। इन्हीं तत्त्वों को लेकर वर्गीकरण दो प्रकार का हांजाता है—(१) आकृतिमूलक और (२) वंशानुक्रमिक या पारिवारिक। आकृतिमूलक वर्गीकरण को दूसरे नाम से रूप व रचना की दृष्टि का वर्गीकरण भी कहते हैं। वंशानुक्रमिक वर्गीकरण को इसीप्रकार, पारिवारिक व ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते हैं। जहाँ केवल पद रचना अर्थात् सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्त्व) की समता होती है वहाँ भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण होता है; और जहाँ सम्बन्धतत्त्व के साथ-साथ अर्थतत्त्व की भी समता रहती है, वहाँ ऐतिहासिक या वंशानुक्रमिक वर्गीकरण होता है।

* श्री डा० मङ्गलदेव ने इसे रचनामूलक व उत्पत्तिमूलक दो प्रकार का कहा है। श्री बाबूराम इसे आकृतिमूलक या पारिवारिक नाम से कहते हैं, इन में तात्त्विक अंतर कुछ नहीं है। इस पुस्तक में भी सकसेनाजी की शब्दावली को ही आधार बनाया गया है।

क [आकृतिमूलक वर्गीकरण]

भाषा



इस वर्ग में प्रत्येक शब्द अपनी अलग-अलग सत्ता रखता है। उनमें मेल न होने से विकार की संभावना नहीं रहती।

वियोगात्मक वर्ग में सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्त्व) और अर्थावयव (अर्थतत्त्व) को अलग-अलग शब्द अलग-अलग व्यक्त करने की शक्ति रखते हैं। वाक्य में शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध केवल उनके वाक्यगत स्थान से ज्ञात होता है। यथा—‘मोहन सोहन को खिलाता है’ और ‘सोहन मोहन को खिलाता है,’ इन उदाहरणों में प्रत्येक शब्द अलग-अलग सत्ता रखता है। यदि इन उदाहरणों के पदों को उलट दिया जाय तो सम्बन्धतत्त्व भी बदल जाता है। हिन्दी, चीनी व अंग्रेजी तीनों ही भाषाएँ वियोगात्मक वर्ग की हैं। चीन का ‘नि त न्गो’ (तू मुझे मारता है) और न्गो त नि (मैं तुझे मारता हूँ) इसके उदाहरण हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि वियोगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) स्वतंत्र शब्दों से या पद क्रम से व्यक्त होता है।

संयोगात्मक भाषाओं में अर्थतत्त्व (अर्थावयव) व सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) आपस में जुड़े रहते हैं। उपर्युक्त तालिका में संयोग के जो तीन प्रकार हैं उनमें (क) प्रकार का

उदाहरण अर्थात् संयोगात्मक अश्लिष्ट प्रकार का उदाहरण यूराल अल्ताई परिवार की भाषाएँ हैं। तुर्की भाषा इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। यथा तुर्की* में 'सेव' का अर्थ है 'प्यार करना'। इसी धातु में 'इस' 'इल' और 'दिर' जोड़ने से अर्थ बदल जाता है। इस वर्ग की भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) और अर्थतत्त्व (अर्थावयव) जुड़ तो जाते हैं, परन्तु, दोनों के स्वरूप अलग-अलग भासते हैं। यथा 'सेवमेक्' 'मेमेक' अथवा हिन्दी के 'शिशुत्व' प्रभुत्व' शब्दों में 'शिशु' और 'प्रभु' से 'त्व' मिल भी रहा है, और भिन्न भी है, अतः ये संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति के उदाहरण हैं।

यह संयोग शब्द के साथ तीन प्रकार से होता है—(१) पूर्व-योग, (२) मध्ययोग और (३) अन्त्य योग। पूर्व योग वाली संयोगात्मक अश्लिष्ट भाषाओं का उदाहरण अप्रीका के बांदू परिवार की भाषाएँ हैं। मध्य योग का उदाहरण प्रशान्त सागरीय द्वीपों की भाषाएँ हैं, और अन्त्य योग का उदाहरण द्राविड़ भाषाओं में मिलता है।

संयोगात्मक श्लिष्ट वर्ग में सम्बन्धतत्त्व (सम्बन्धावयव) व अर्थतत्त्व (अर्थावयव) आपस में मिलकर अर्थतत्त्व वाला भाग का विकृत कर देते हैं। इसी से इस योग को श्लिष्ट प्रकार का संयोग कहते हैं। यथा—दिन, वेद और इतिहास में अर्थतत्त्वों के साथ 'इक' सम्बन्धतत्त्व जुड़कर दैनिक, वैदिक, ऐतिहासिक रूपों में इन्हें बदल कर आपस में मिल-जुल जाता है। श्लिष्ट संयोगात्मक वर्ग का उदाहरण संस्कृत व अरबी भाषाएँ हैं। अरबी का 'कतब' धातु इसका उदाहरण है। 'कतब' से किताब,

* तुर्की भाषा में प्रकृति-स्वर की अनुरूपता प्रत्यय-स्वर में होनी आवश्यक है।

‘कातिब,’ ‘मकतब’ सब उसो प्रकार बन जाते हैं जैसे ऊपर के उदाहरणों में वैदिकादि शब्द ।

संयोगात्मक* प्रश्लिष्ट भाषा में सन्बधतत्त्व व अर्थतत्त्व ऐसे घुल-मिल जाते हैं, जैसे दूध-पानी । इस वर्ग में इन दोनों तत्त्वों के मेल से एक तीसरा ही रूप बन जाता है । यथा-संस्कृत के ‘ऋजु’ शब्द से ‘आर्जव’ और ‘शिशु’ से ‘शैशव’ । इन शब्दों में दांनों ही तत्त्वों के असलो या मूल रूप विकृत हो गये हैं । इस वर्ग में संस्कृत व ग्रीनलैण्ड की भाषाएँ आती हैं ।

वंशानुक्रमिक (पारिवारिक) वर्गीकरण

भाषाओं के वंशानुक्रमिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण के लिये चार बातों की समता आवश्यक है—

१—स्थानीय समीपता

२—व्याकरण की समता

३—शब्द-साम्य और

४—ध्वनि साम्य ।

इन चारों बातों की समता होने पर ही कहा जा सकता है कि अमुक भाषा अमुक परिवार की है । इन चार बातों में से केवल एक बात के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता । स्थानीय समीपता की दृष्टि से तो बंगाली हमारे परिवार में नहीं आनी चाहिये, क्योंकि हमसे बहुत दूर है । पर

*भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण विभिन्न भाषाओं में किसी एक ही प्रधान लक्षण पर निर्भर है । आकृतिमूलक वर्गीकरण से शत होता है कि भाषाएँ सदा अश्लिष्टावस्था से श्लिष्ट, प्रश्लिष्ट तथा फिर योगात्मक से अन्त में अयोगात्मक या वियोगात्मक अवस्था में आती हैं एवं फिर प्रत्यावर्तन होकर पुनः प्रश्लिष्टावस्था में पहुँच जाती हैं । यह भाषाओं की प्रकृति है ।

वह दूर रहते हुए भी है हमारे परिवार की है, और द्राविड़ भाषाएँ मराठी के पास रह कर भी हमारे कुल में नहीं आ सकतीं । अतः शब्द साम्य देखना आवश्यक हो जाता है । शब्द साम्य में-भी तत्सम शब्दों की समता नहीं, तद्भव शब्दों की समता देखना आवश्यक है, क्योंकि तत्सम शब्द तो यात्रा, युद्ध, व्यापार आदि कई प्रसंगों से एक भाषा के दूसरी में प्रविष्ट हो सकते हैं अतः इतने ही से कुल-क्रम का निर्णय नहीं हो सकता । निश्चित रूप से कुल-क्रम का पता चलाने के लिये व्याकरण व ध्वनि की समता भी देखना आवश्यक है । जहाँ व्याकरण व ध्वनि साम्य की छाप लग जाय वहीं यह निर्णय किया जा सकता है कि अमुक भाषा अमुक कुल की है । शब्द साम्य का एक उदाहरण देखिये—संस्कृत का 'अश्व', ग्रीक भाषा का 'हिपोस' फ़ारसी का 'अस्प' । एक अन्य उदाहरण देखिये—जर्मन का 'गेन्स' संस्कृत का 'इंस' अंग्रेज़ी का 'गूज' प्राचीन आइरिश का 'गैस' । ये सब ऐसे शब्द हैं जिनके मूल में कोई एक ही शब्द रहा है । इसी आधार पर उक्त सभी भाषाओं का कुल या परिवार भी एक ही माना जाता है । इन शब्दों में जो अन्तर लक्षित होता है वह वर्णविकार-सम्बन्धी*नियमों के ही आधार पर है ।

भिन्न २ भाषा परिवार

'भाषापरिवार' शब्द में 'परिवार' शब्द का प्रयोग औपाचरिक है । इस शब्द के प्रयोग से यह आशय है कि किसी भी भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली सारी भाषाएँ किसी एक ही भाषा

* वर्ण विकार सम्बन्धी नियम के अनुसार मूल शब्द कालान्तर में दूसरे रूप को धारण कर लेता है, एवं भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलाई पड़ता है । इस सम्बन्ध में पं० ग्रिम के नियमों पर यथा-स्थान प्रकाश डाला जायगा ।

से निकली हैं, अर्थात् उन सब का मूल-स्रोत एक ही भाषा थी ।

भाषा-साम्य की दृष्टि से संसार के जो-जो भूभाग जिस-जिस के साथ आसकते हैं, उन-उन का एक-एक समूह बना दिया जाय तो अनुचित नहीं ।

भाषा-साम्य की दृष्टि से यूरोप व एशिया का एक चक्र बन सकता है । दोनों अमरीकाओं का एक, प्रशान्त महासागरीय द्वीपों का एक, एवं अफ्रीका का एक । इस प्रकार कुल चार चक्र बनते हैं । डा० मङ्गलदेव ने जिन सामी भाषाओं का एक स्वतन्त्र परिवार माना है^१, वे वास्तव में यूरोशियाई नाम के विशाल परिवार का एक भाषा-समूह मात्र हैं ।

[क] यूरोशियाई चक्र

१—सामी भाषा समूह*

सामी भाषाओं के समूह की विशेषताएँ निम्न हैं :—

१ डा० श्री मङ्गलदेव ने समस्त संसार की भाषाओं को निम्न परिवारों में बांटा है :—१—भारत यूरोपीय भाषा परिवार २—सैमिटिक भाषापरिवार ३—हैमिटिक भाषापरिवार ४—यूराल-एल्टेइक परिवार ५—द्रविड़ परिवार ६—मुण्डापरिवार ७—तिब्बती-बर्मी परिवार ८—चीनी परिवार व ९—अन्य भाषा परिवार ।

डा० श्री बाबूराम ने समस्त संसार की भाषाओं के चार चक्र बनाये हैं । वे ये हैं :—१—अमरीकी चक्र २—प्रशान्त सागरीय चक्र ३—अफ्रीकी चक्र और ४—यूरोशियाई चक्र । इस पुस्तक में चक्रों के आधार पर ही भाषा परिवारों का विवेचन किया गया है ।

* सामी शब्द का ऐतिहासिक विवेचन आगे सामी-हामी शाखा के विवेचन के साथ दिया गया है । हज़रत नौह के पुत्र सेम व हेम के नाम से ये दो भाषा-समूह प्रसिद्ध हैं । सामी-समूह सेम के नाम पर है, और हामी हेम के नाम पर ।

१—अर्थावयव (अर्थतत्त्व) सामी भाषाओं में धातुरूप व तीन व्यञ्जनों का बना होता है । यथा—कुल्ल, कनूल ।

२—सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्त्व) का भाव उपसर्ग या प्रत्यय से प्रकट होता है । यथा—तक्तब, इनकदब । यहाँ 'त' और 'इन' के योग से सम्बन्धावयव प्रकट होता है ।

३—इन भाषाओं में 'त्' या 'अत्' स्त्री प्रत्यय जोड़ कर लिंग भेद करने की प्रवृत्ति पाई जाती है । यथा—इन्न = बेटा, बिन्न = बेटी ।

४—ये भाषाएँ समासहीन व पद-क्रम में आर्य-भाषाओं से उल्टी हैं ।

५—इन में कर्त्ता, कर्म और सम्बन्ध ये तीन ही विभक्तियाँ हैं । यथा—अब्द, अब्दी, अब्दा । ये विभक्तियाँ प्रत्यय जोड़ कर बनाई जाती हैं ।

६—इन भाषाओं में दो ही काल होते हैं—अपूर्ण और पूर्ण । यथा— न-कुतुलु (हम मारते हैं) क्तल-अत् (उसने मारा) अपूर्ण में उप-सर्ग स्वरूप और पूर्ण में क्रमशः प्रत्यय रूप 'न' और 'अत्' जोड़े गये हैं ।

इस भाषा - समूह का स्थान आर्य-परिवार से दूसरे स्थान पर है । यक्कदी, अरमी, फिनीशी, यहूदी, अरबी और हब्शी इस भाषा-समूह की ही भाषाएँ हैं ।

(२) उराल-अन्ताई भाषा समूह :—

विशेषता—

(क) इस समूह की भाषाओं के पदों में योगिक प्रक्रिया मिलती है । इसके अनुसार स्थायी धातु में एक या अनेक अस्थायी प्रत्यय एक के बाद एक जुड़ते रहते हैं ।

(ख) स्वर की अनुरूपता रहती है ।

(ग) सम्बन्धवाचक सर्वनामों में प्रत्यय जोड़ना इस समूह की विशेषता है ।

(घ) इस समूह की दो शाखाएँ हैं— (१) उराल* और (२)—अल्ताई† ।

उराल शाखा—में फिनी-उग्री और मगियार मुख्य भाषाएँ हैं ।

अल्ताई शाखा—में मंगोला, तुङ्गोजी और तुर्की मुख्य भाषाएँ हैं ।

(३) चीनी भाषा समूहः—

विशेषता—

(क) इन भाषाओं में एकाक्षर शब्द होते हैं ।

(ख) शब्द दो प्रकार के होते हैं—(१) अर्थहीन और (२) अर्थवान । अर्थहीन शब्द अर्थवान शब्दों के सम्बन्धतत्त्व का काम करते हैं ।

(ग) वाक्य में शब्दों के स्थान से ही उनकी विशेषता का ज्ञान होता है ।

(घ) ये भाषाएँ वियोगावस्था की है ।

(ङ) इन भाषाओं में सुर-भेद का बाहुल्य है ।

(च) इन भाषाओं में व्याकरण का अभाव है । इस समूह की अनामी*, थाई, तिब्बती-ब्राह्मी, मुख्य-मुख्य भाषाएँ हैं और मंदारी व कंटूनी प्रसिद्ध बोलियाँ ।

* यह पर्वत का नाम है । यह पर्वत यूरोप व एशिया की सीमा का विभाजक है ।

† यह भी एक पर्वत है । जो मध्य एशिया के ऊपरी भाग में है ।

* कुछ विद्वान् इसे चीनी भाषा समूह से अलग रखते हैं ।

(४) काकेशी भाषा समूहः—

विशेषता—

(क) इस समूह के दो भाग हैं— (१) उत्तरी काकेशी (२) दक्षिणी काकेशी ।

(क) उत्तरी काकेशी भाषा समूह में व्यंजनों की अधिकता, और स्वरों की कमी है ।

(ख) संज्ञा के ६ लिंग माने जाते हैं ।

(ग) पदरचना बहुत जटिल है ।

(घ) साहित्य व लिपिहीनता इनका मुख्य लक्षण है ।

दक्षिणी काकेशी में साहित्य भी है, और लिपि भी । इस वर्ग की मुख्य बोली 'गार्जी' है ।

परिवारमुक्त भाषाएँ

इन समूहों के अतिरिक्त यूरोशियाई परिवार के भूभाग में कुछ ऐसी प्राचीन व नवीन भाषाएँ भी हैं जिनका किसी समूह में समावेश नहीं होता । ये स्वतन्त्र भाषाएँ इस प्रकार हैं :—

[प्राचीन]

(क) सुमेरी (ख) मितानी (ग) कोस्सी (घ) वन्नी (ङ) एलामा (च) हिट्टाइट-कप्पडोसी और (छ) एत्रस्कून ।

[नवीन]

(क) जापानी, (ख) कोरियाई, (ग) गेनू, (घ) हार्डपरबोरी और (ङ) बास्क ।

(ख) अमरीकी चक्र

इस चक्र में उत्तरी-दक्षिणी अमरिका तथा मध्य अमेरिका के सभी भागों की सभी भाषाओं का समावेश किया गया है । अमेरिका

के मूल निवासी पहले लिखा नहीं करते थे, रंग बिरंगी रस्सियों में गांठें डाल कर, पत्थर व घोंघों पर निशान डाल कर अथवा चित्र बनाकर अपने भाव प्रकट करते थे। अमरिकी चक्र में मेक्सिको के आसपास की नहुअत्ल और मय दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें कुछ लिपि और साहित्य दोनों मिलते हैं।

विशेषता :—

(क) इस चक्र की भाषाओं में क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ अधिक हैं।

(ख) ये सब योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था की हैं। कभी-कभी पूरा-पूरा वाक्य हो लम्बे शब्द द्वारा व्यक्त होता है। यथा—नाधोलिनन (हमारे लिये डोंगो लाओ)*। इस वाक्य में 'नातन' (लान्त), 'अमोखल' (नाव) और 'निन' (हम) का एक समास-वाक्य बनकर नाधोलिनन बन गया है। कभी-कभी एक दर्जन तक शब्द एक पद में आ जाते हैं।

(ग) इन भाषाओं में तुलनात्मक व्याकरण का अभाव है।

इस चक्र की भाषाएँ दो भागों में बांटी जाती हैं—(१) उत्तरी वर्ग (२) दक्षिणी वर्ग।

उत्तरी अमेरिका की भाषाएँ इस प्रकार हैं :—

भाषा	स्थान
एक्विमो	ग्रीनलेण्ड में
अथबस्की	कनाडा में
अल्गोनकिन	संयुक्तराज्य में
नहुअत्ल (प्राचीन)	मेक्सिको में
अजतेक् (नवीन)	”
मय	युक्तारण में

* यह चेरोकी नामक भाषा का उदाहरण है। यह भाषा उत्तरी अमेरिका में बाली जाती है।

दक्षिणी अमरिका की भाषाएँ इस प्रकार हैं :—

भाषा	स्थान
करीबक, अरोबक	उत्तरीप्रदेश में
गुअर्नी-तुपी	मध्यप्रदेश में
अरैकन, कुइचुआ	पश्चिमीप्रदेश में
चको, तियरादेल्फुगो †	पेरू-चिली में

(ग) प्रशान्त महासागर चक्र

इस चक्र की भाषाएँ मेदागास्कर से ईस्टर द्वीप तक बोली जाती हैं। इस चक्र की भाषाओं के नाम भौगोलिक आधार पर रखे गये हैं।

विशेषता—

(क) इस चक्र की भाषाओं में ध्वनिभिन्नता रहते हुए भी पद रचना की समता पाई जाती है।

(ख) धातु द्व्यक्षरी होते हैं। बलाघान प्रायः प्रथम अक्षर पर होता है।

(ग) क्रियाएँ उपसर्ग, प्रत्यय व मध्य विन्यस्स प्रत्यय वाली होती हैं; और संज्ञाएँ लिङ्ग-भेद रहित होती हैं।

इस चक्र की भाषाओं को पाँच शाखाओं में बाँटा जाता है:—

१—मलाया (इन्डोनेशियन) शाखा

२—मलेनेशियन शाखा

३—पालीनेशियन शाखा

४—पापुआद्वीपी शाखा

और ५—आस्ट्रेलियन शाखा।

प्रथम तीन शाखाएँ संयोगात्मक अश्लिष्ट अवस्था की हैं। इन तीनों शाखाओं का समान लक्षण 'अभ्यास' है। अभ्यास

† यह भाषा संसार भर में संस्कृतिहीन भाषा है।

का अर्थ है किसी शब्द के वजन पर शब्द बनाना यथा-मलाई भाषा में रज (राजा); और रज-रज (बहुत से राजे) पालीनेशियन भाषा में यथा- हैरे (चलना); और हैरे-हैरे (ऊपर नीचे चलना) ।

[घ] अफ्रीकी चक्र

इस चक्र में चार शाखाएँ हैं :—

१—बुशमैन शाखा

२—बांटू शाखा

३—सूडान शाखा

और ४—सामी-हामी शाखा

ये सारी भाषाएँ अमरिकी चक्र की भाषाओं से उन्नत और समृद्ध हैं। जब से इस महाद्वीप में अंग्रेजों का पदार्पण हुआ है अंग्रेजी मिश्रित नीग्रो बोलियाँ काम में आने लगी हैं एवं महाद्वीप के उत्तर और मध्य भाग में अरबी बोली का बोलबाला है। वैसे अधिकांश अफ्रीका में 'हाउसा' भाषा चलती है।

बुशमैन शाखा में कोई साहित्य नहीं केवल कुछ ग्रामगीत हैं। इस शाखा पर सूडान व बांटू शाखाओं का स्पष्ट रूप में प्रभाव अवगत होता है।

विशेषता :—

(क) बुशमैन शाखा संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है।

(ख) इस शाखा में पाँच क्लिक ध्वनियाँ हैं :— १-दन्त्य, २-ओष्ठ्य, ३-मूर्धन्य, ४-तालव्य और पार्श्विक।

(ग) इस शाखा में लिङ्ग नहीं होते।

(घ) यह शाखा प्राणिवर्ग और अप्राणिवर्ग दो वर्गों में बँटी हुई है।

इसी शाखा के अन्तर्गत होटेटांट भाषा है। इस भाषा में तीन

वचन होते हैं, वैसे आकृति में होटेदांट एकाक्षरी भाषा है।

बाँटू शाखा

ये शाखा दक्षिणी अफ्रीका में भूमध्य रेखा के नीचे के भाग में फैली हुई है। इस शाखा में १५० के लगभग भाषाएँ हैं। इनको तीन समूहों में बाँटा जा सकता है:—

- | | |
|-----------------|----------------|
| १—पूर्व में | काफिर और जुलू। |
| २—मध्य में | सेमुतो |
| और ३—पश्चिम में | कांगो। |

विशेषता—

(क) ये सब संयोगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं।

(ख) इन में पद उपसर्ग जोड़कर बनाये जाते हैं।

यथा 'कु' उपसर्ग जोड़ कर 'कुति' (हमको) 'कुनि'

(उनको) और 'कुजे' (उसको)

(ग) ये भाषाएँ सुनने में बड़ी मधुर लगती हैं।

(घ) इन में लिङ्ग का बिल्कुल अभाव है।

(ङ) इन में एक वचन के लिये उपसर्ग लगाया जाता है, और बहुवचन में 'ब' जोड़ा जाता है। यथा लब (तह-करना) लब-लब (बार-बार तह करना)।

सूडान शाखा

अफ्रीका में भूमध्य-रेखा से उत्तर, पश्चिम से पूर्व तक यही शाखा फैली हुई है। इस शाखा में ४३५ भाषाएँ हैं।

विशेषता :—

[क] इन में चीनी की भाँति सुर-भेद से अर्थभेद होता है। और संज्ञा व क्रिया का भेद वाक्य में शब्द के स्थान से ज्ञात होता है।

[ख] इन भाषाओं में उपसर्ग और प्रत्यय का नितान्त

अभाव है।

[ग] ये सब वियोगात्मक आकृति की हैं।

[घ] इन में लिङ्ग-भेद नहीं है। नर व मादा शब्द जोड़ कर लिङ्ग-भेद किया जाता है।

[ङ] वचन भेद भी नहीं हैं, 'आ' का 'ओ' करके वचन भेद किया जाता है। यथा-रार = [जंगल] रोर = (बहुत-से जङ्गल) इत्यादि।

[च] इन में वाक्य एक क्रिया व एक संज्ञा के ही होते हैं।

[छ] इन के मुहावरों को ध्वनिचित्र, शब्दचित्र वर्णनात्मक या क्रियाविशेषण कहते हैं। यथा ईव भाषा के जोकक शब्द का अर्थ है, सीधे चलना, और जोत्यत्य का अर्थ है जल्दी-जल्दी चलना, इत्यादि। इसी प्रकार अन्य मुहावरे भी हैं।

इस शाखा की चार उपशाखाएँ हैं :—

१—सेनेगल

२—ईव

३—मध्य अफ्रीकी भाषा समूह

और ४—नील नदी के ऊपरी भाग की बोलियाँ।

इस शाखा की ४३५ भाषाओं में से केलल बाई, मोम, कनूरी, हाउसा और प्यूल ये भाषाएँ ही लिपि बद्ध हैं।

सामी-हामी शाखाएँ

(सामी)

हजरत नौह के ज्येष्ठ पुत्र सेम, अरब, असीरिया और सीरिया निवासियों के मूल पुरुष थे। और इन के छोटे भाई हेम मिश्र, फोनेसिया और इथियापिया आदि के लोगों के पूर्वपुरुष थे। इन्हीं दानों के नाम से सामी-हामी नाम के दो भाषा-परिवार प्रसिद्ध

हैं। सामी परिवार की भाषाएँ वैसे तो एशिया ही में बोली जाती हैं, परन्तु अरबी जो इस परिवार की भाषा है उत्तरी अफ्रीका में भी बोली जाती है। अल्जीरिया, मोरक्को एवं हब्शी राज्यों का भाषा अरबी ही है। इसे सामी भाषा भी कहते हैं। सामी-हामी शाखाओं की भाषाओं में बहुत साम्य है। इन्हें एक ही शाखा में भी माना जा सकता है। दोनों ही समूहों में सर्वनाम व संज्ञा के बहुवचन एक से हैं। लिङ्ग में भी दोनों में समता है। 'त' प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिङ्ग बनाने की पद्धति भी दोनों में समान है। केवल सामी शाखा की हामी शाखा से विशेषता इस बात में है कि सामी में अक्षर, धातु और स्वर व्यत्यय है, जोकि हामी शाखा की भाषाओं में नहीं है।

(हामी)

इस शाखा की पाँच विशेषताएँ हैं :—

(क) पद रचना में प्रत्यय व उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है।

(ख) संज्ञापदों में 'उपसर्ग' व क्रियापदों में 'प्रत्यय' का प्रयोग होता है।

(ग) क्रियाओं में काल बांध का प्रायः अभाव-सा ही है।

(घ) लिंग भेद स्त्री-पुरुष के भेद से न हाँकर प्रायः छोटी-बड़ी वस्तु के भेद से होता है। एवं पुल्लिङ्ग का उच्चारण कंठ्य से और स्त्रीलिङ्ग का उच्चारण दन्त्य अक्षर से होता है, यथा—
कंक (तेरा), तंते (तेरी)।

(ङ) केवल इस शाखा की एक भाषा (नामा) में द्विवचन का प्रयोग भी चलता है।

(च) *ध्रुवाभिमुख नियम इस शाखा की मोटी विशेषता है। ध्रुवाभिमुख नियम का अर्थ यह है कि बहुवचन में लिङ्ग

* (law of Polarity)

भेद हो जाता है। यथा—सोमाली भाषा में होयोदि (मां) होयो-इन-कि (माताएँ) ।

(ज) हामी भाषाओं में विभक्तिसूचक चिह्न नहीं है।

(आ)

(आर्य-परिवार या भारोपीय परिवार)

इस परिवार का ऐतिहासिक व सांस्कृतिक महत्त्व संसार के अन्य भाषा परिवारों में श्रेष्ठ है। इस परिवार की भाषाएँ प्रायः सारे यूरोप, अमेरिका, ईरान व अमीनिया में तथा अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम के कोने में बोली जाती हैं। इस परिवार के बोलने वालों की संख्या, क्षेत्रफल व साहित्य सभी बातों को देखते हुए, इसका स्थान प्रमुख माना जाता है। इसी परिवार की कुछ भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से भाषा-विज्ञान का आविर्भाव हुआ है।

इस परिवार के पहले कई नाम पड़े। इन नामों में से कुछ नाम इस प्रकार हैं :—

१—इण्डो-जर्मनिक

२—इण्डो-कैल्टिक

३—इण्डो-यूरोपियन

किन्तु, सरलता और छोटेपन की दृष्टि से 'आर्य-परिवार' नाम पड़ा जिसे सभी विद्वानों ने पसन्द किया है।

आदिम भाषा और आर्य-परिवार की ध्वनियाँ

आर्य-परिवार की प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह कल्पना होती है कि इन सब के आरम्भ में कोई एक मूल भाषा अवश्य रही होगी। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक व लैटिन के सब से पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओं का जो स्वरूप मिलता है, उससे ही इस आदि भाषा की कल्पना हुई

है। इन भाषाओं की तुलना से ज्ञात हुआ कि आदिम आर्य भाषा में अमुक-अमुक ध्वनियाँ, सन्धियाँ, संज्ञा, सर्वनाम आदि चालू रहे होंगे, जैसाकि निम्न कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है।

सं०	ग्री०	अंगरेजी	गाथिक	जर्म०
पितर (पितृ) पतेर	फाँदर	फ्रादर	वेटर	

इन शब्दों से सिद्ध होता है कि आदिम भाषा में (प्) ध्वनि अवश्य रही होगी। इस आधार पर यह ध्वनि नियम बना कि संस्कृत, ग्रीक आदि में जहाँ (प्) होगा, जर्मन समूह वाली भाषाओं में वहाँ (फ्) ध्वनि रही होगी।

यूरोप की समस्त भाषाओं में से ग्रीक भाषा का भारत ईरानी भाषा-वर्ग से घनिष्ट सम्बन्ध है। ग्रीक भाषा के शब्दों के विवेचन से तथा ग्रीक और संस्कृत की ध्वनियों व व्याकरणों की परस्पर तुलना से बड़ा कुतूहल होता है। इस तुलना से भारत यूरोपीय (आर्यपरिवार का) भाषाओं की मूल भाषा के स्वरूप के निर्णय में बड़ी भारी सहायता मिलती है। जहाँ तक स्वरों का सम्बन्ध है ग्रीक भाषा ने प्राचीन मूल भाषा के स्वरों को बहुत अधिक मात्रा में सुरक्षित रखा है। उदाहरणार्थ मूल भाषा के सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ,) संस्कृत और लैटिन में असन्ध्यक्षर (अ, ई,) की तरह उच्चरित होने लगे थे। किन्तु ग्रीक में ये ज्यों के त्यों सुरक्षित रहे।

* इस परिवार के अन्तर्गत अन्य विद्वानों के मतानुसार निम्न उपपरिवार सम्मिलित हैं। १—भारतीय आर्य भाषा वर्ग, २—ईरानी भाषा वर्ग ३—अर्मीनियन भाषा, ४—ग्रीक भाषा वर्ग, ५—एल्बैनियन, ६—इंडैलिक भाषा वर्ग, ७—केल्टिक-भाषा वर्ग ८—ट्यूटानिक या जर्मेनिक भाषा वर्ग ९—बाल्टिक-स्लैवोनिक भाषा और १०—टोखारिश भाषा।

परन्तु, व्यंजन ग्रीक में बहुत कम सुरक्षित रहे। इसका सबसे जीवित उदाहरण मूल भाषा के Gh, Dh, Bh के स्थान में ग्रीक में Kh (X) Th (E) Ph (O) का हो जाना है। किन्तु, संस्कृत में इनमें परिवर्तन नहीं होता।

<u>संस्कृत</u>	<u>ग्रीक</u>
भरामि	Phero
धूमः	Thumos
दीर्घः	Dolikhos

आदिभ भाषा या मूलभाषा में दो या अधिक व्यञ्जन एक साथ आ सकते थे, पर दो या अधिक मूल स्वर नहीं। अन्तस्थ वर्ण (स्वर या व्यंजन के रूप से) अन्य व्यंजनों या स्वरों के साथ भी आ सकते थे।

पदरचना

आदिभ आर्य भाषा के पद में तीन अंश रहे होंगे—धातु, पूर्व-प्रत्यय, और परप्रत्यय। इनमें से धातु तो सभी में अवश्य ही होती थी। यथा 'दिश्' में केवल धातु है, 'भुजौ' में धातु और परप्रत्यय एवं 'मनस' में धातु और पूर्वप्रत्यय तथा 'स्वप्नः' में तीनों ही अंश हैं। मूल भाषा में संज्ञा, क्रिया, क्रिया-विशेषण, और समुच्चयादि-बोधक का भी प्रयोग होता रहा होगा। साथ ही समास स्वरक्रम और सुर का भी प्रयोग चलता था ऐसा अनुमान है। 'सुर' पद के किसी भी भाग—पूर्वप्रत्यय या परप्रत्यय में हो सकता था। मूल भाषा के तीन मूल स्वर (अ, ए, ओ) ह्रस्व, और (आ, ए, ओ) दीर्घ के स्थान पर संस्कृत में केवल अकार (ह्रस्व और दीर्घ) मिलता है। इससे स्वरक्रम समझने में कठिनाई पड़ती है। वैसे गुण और वृद्धि

नाम की संधियों में संस्कृत में भी स्वर-क्रम मिलता है। ग्रीक और लैटिन में तीन मूल स्वर मिलते हैं। ग्रीक पदों में 'ए' वर्तमान सूचक और 'ओ' भूतकाल सूचक हैं।

मूलभाषा की विशेषताएँ—

- (क) आदिम या मूल भाषाएँ श्लिष्ट संयोगात्मक हैं।
- (ख) पर प्रत्ययों का बाहुल्य है, और परप्रत्ययों से ही सम्बन्धावयव (सम्बन्धतत्त्व) का बोध भी होता है।
- (ग) पद के तीन अंश होते हैं।
- (घ) धातु का अभ्यास मिलता है।
- (ङ) उपसर्ग का प्रयोग मिलता है।
- (च) मध्यप्रत्यय का अभाव है।
- (छ) समास, स्वरक्रम, और सुर इस में मुख्य-लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

मूल भाषाभाषी

संस्कृत, ग्रीक, टोखारी, अर्मीनी, ऐल्बेनी, केल्टी, बाल्टी, स्लावी, जर्मनी, ईरानी जब इन १० भाषाओं का मूल भाषाओं से सम्बन्ध है तो आदिम भाषा—भाषियों के मूल निवास के निर्णय में इन भाषाओं का भी ध्यान रखना पड़ेगा, केवल आर्यों का ही ध्यान रखने से काम चलने का नहीं।

पश्चिमी विद्वानों ने इन सब भाषाओं के साम्य का अध्ययन करके मध्य-एशिया* का मूल भाषा-भाषियों का मूल स्थान माना है। किसी-किसी ने इसके विरोध में यूरोप में मूलस्थान होने की कल्पना की है। प्रत्येक ने मूलपुरुष होने का श्रेय लेने के लिये

* इस सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक का मत उत्तरी ध्रुव के पक्ष में है एवं एक अन्य बंगाल के युवक विद्वान् का मत सारस्वत प्रदेश (भारत) के पक्ष में भी है।

अपने-अपने देश को मूल-स्थान मानने की भी चेष्टा की है। साथ ही जो जिस भाषा का विशेषज्ञ था उसने उसी भाषा के स्थान को मूल पुरुषों का स्थान मान लिया है। इतिहास ने इस प्रश्न को और भी दलदल में डाल दिया है। ई० पू० २००० के आस-पास आर्यों की स्थिति मेसोपोटैमिया में पाई जाती है। १४०० ई० पू० के 'बोगाजकोई' के लेख में आर्यों का सर्व प्रथम स्पष्ट उल्लेख है। इस लेख में मितानी जाति के शासकों के तथा मर्यन्नि (सं० मर्य), तथा इन्दर (इन्द्र), मित्तर (मित्र) और उरुवण (वरुण) आदि देवताओं के नाम आये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उस समय आर्य जाति की कोई शाखा एशियामाइनर में थी, और यही स्थान आर्यों का मूल स्थान था। प्रो० सुनीति कुमार ने ब्रेडेस्टाइन महोदय के ही मत का समर्थन करते हुए उराल पर्वत के दक्षिण प्रदेश को ही मूल स्थान माना है।

मूल लोगों का नाम

उराल पर्वत के दक्षिण में रहने वाला ये मूल आर्य (वीरोस) नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत में 'वीर' जर्मनी 'वेर' प्राचीन आइरी भाषा में 'फैर' हाने से ज्ञात होता है कि इन सब शब्दों का मूल स्थान एक ही था, और इसके उच्चारण कर्त्ता भी एक ही जाति के थे। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उराल के दक्षिणी मैदान में अश्व (घोड़ा) वीरों को मिला, और इसे उन्होंने सर्व प्रथम शिक्षित बनाकर पालतू बनाया, तथा इसी से फिर वे सवारी का काम लेने लगे।

इतिहास की इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमान किया जाता है कि ये ही वीर आरम्भ में दो शाखाओं में बँटकर ईरान व भारत में तथा कुछ पश्चिम की ओर पोलैण्ड में जा-बसे। ये सारी घटनाएँ ईसा से अनुमानतः २४००-२००० वर्ष पूर्व हुई होंगी।

वेद की ऋचाओं घोड़े (अश्व)* का वर्णन प्रचुर मात्रा से हुआ है। घोड़े को घुमाकर दिग्विजय करने वाली कथा को उक्त ऋचाओं का पूर्ण बल प्राप्त है। मेसौपोटेमियां में बैल, ऊँट व गधे भी काम में आते थे। घोड़े वाले लोगों का बोलवाला इसी-लिये होगया होगा कि घोड़ा इन सभी जानवरों से तेज जानवर है।

फिर 'ग्वेडस' शब्द का विवेचन भी बड़ा रोचक ठहरता है। आर्यों से अश्व की भाँति 'ग्वेडस' का भी बड़ा भारी सम्बन्ध था। सुमेरी भाषा में 'ग्वेडस' अर्थात् गाय के लिये 'गुद' शब्द मिलता है इन उदाहरणों के बल पर इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि ई० पू० १००० तक पश्चिम में बलकान और ग्रीक तक एवं पूर्व में ईराक व भारत तक आर्यों का फैलाव होगया था। आर्यों की भाषा, सभ्यता, संस्कृति और रहन-सहन सभी इस समय दूर-दूर फैल चुके थे।

जर्मन विद्वान् श्लाइखर के मतानुसार आदिम भाषा की दो निम्नलिखित शाखाएँ हुईं :—

१—स्लावी जर्मन (एक ओर गई)

और २—ईरानी-हिन्दी-ग्रीक-इटाली-केल्टी दूसरी ओर ।

वर्तमान भाषाओं का चक्र देखकर स्पष्ट कहा जा सकता है कि संस्कृत आदिम भाषा के अधिक निकट पड़ती है। पर पद-रचना की दृष्टि से हिट्टाइट संस्कृत से भी अधिक निकट ठहरती है, किन्तु ध्वनिसमूह, वाक्यविन्यास आदि की दृष्टि से हिट्टाइट मूल भाषा से दूर हो जाती है। फारसी और जर्मनी में से जर्मनी मूलभाषा के अधिक निकट है। लिथुएनी में भी द्विवचन के रूप

* देखिये श्री सक्सेना का सामान्य भाषा-विज्ञान । कई अन्य विद्वानों का भी यही मत है ।

कुछ-कुछ पहले तक मूलभाषा के चिह्नरूप में मौजूद थे, पर अब उनका प्रायः लोप हो गया है।

केन्टुम् व शतम् वर्ग

अन्य परिवारों को छोड़कर आदिम आर्य भाषाओं की यदि परस्पर तुलना की जाय तो उन्हें दो समूहों में या वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

१—शतम् वर्ग
और २—केन्टुम् वर्ग।

ये दो समूह जिस विशेषता के आधार पर किये जाते हैं वह विशेषता, उन शब्दों में पाई जाती है जिनमें, एक ही वर्ण के स्थान में, ग्रीक भाषा में क् और संस्कृत में श् का प्रयोग होता है। यथा :—

<u>संस्कृत</u>	<u>ग्रीक</u>
शतम्	He-Katon
शुनेः	Kunos
दश	Deka
अश्मो (अश्मन्)	Kmon
ददर्श	Dedorka

इस उच्चारण सम्बन्धी विशेषता के नियम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

भारत यूरोपीय (आर्य-परिवार) समूह की मूल भाषा के कुछ कण्ठ्य वर्ण (क् आदि) इस भाषा परिवार के एक भाग में तो उष्मा (श् आदि) के रूप में पाये जाते हैं, परन्तु दूसरे भाग में कण्ठ्य-सपर्श के ही रूप में मिलते हैं। इस नियम का उदाहरण भिन्न-भिन्न भाषाओं में 'सौ' के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है।

इस नियम के अनुसार भारतीय, ईरानी, अर्मीनी, वाल्टिक स्लावोनिक और एल्बेनियम भाषाएँ शतमवर्ग में आती हैं ।

और

ग्रीक, इटेलिक, केल्टिक, ट्यूटानिक, व टोखारिश भाषाएँ केण्टुम्-वर्ग में परिगणित होती हैं !

शतम् वर्ग

संस्कृत—‘शतम्’, प्राकृत—‘सदं’ ‘सअं’, हिन्दी—सौ

जिन्द—‘सतम्’—फारसी ‘सद’

लिथुआनियन Szimatas (Sz = श)

बल्गेरियन—(प्राचीन) Suto

रूसी—Sto

केण्डम्-वर्ग

ग्रीक * में Hekaton, लैटिन में Centum, इटालियन में Cento स्पेनिश में Ciento, फ्रैन्च में Ceut, आइरिश में Ceud, गेलिक में Ceud, ब्रेटन में Kant, गाथिक में Hund † जर्मनी में Hunt, टोखारिश में Kandh.

भारत यूरोपीय (आर्य) परिवार की मूल भाषा में जहाँ स्वरात्मक ‘न’ या म् पाया जाता है वहाँ केण्टुम वर्ग में अनुनासिक स्पर्श देखा जाता है, किन्तु सतम् वर्ग में अनुनासिक का लोप होकर केवल निरनुनासिक स्वर शेष रह जाता है: यथा—

संस्कृत

दश

लैटिन

Decem इत्यादि ।

* ग्रीक में ‘C’ का उच्चारण (क) का होता है । † ट्यूटानिक भाषाओं में ऐसे उदाहरणों का ‘हू’ भारत यूरोपीय ‘क’ का स्थानीय होता है ।

आर्य-परिवार की कुछ भाषाओं का संक्षिप्त परिचय व भारतीय आर्य-भाषाओं का अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भेद ।

१ केल्टी—

इस समूह की भाषाओं का क्षेत्र यूरोप के निम्न स्थानों में आज से लगभग २००० वर्ष पहिले था—

१—आयरलैंड, २—ग्रेटब्रटेन, फ्रांस के कुछ भूभाग, बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी, इटली, ग्रीस आदि ।

२ इटाली—*

इस समूह की प्राचीन भाषाओं की वंशजा लैटिन भाषा है । लैटिन से ही स्पेनी, पुर्तगाली आदि का विकास है । लैटिन रोम की राज्य भाषा थी, और रोम के विकास के साथ-साथ सारे यूरोप में विकसित हुई । लैटिन का साहित्यिक व धार्मिक मूल्य संस्कृत के ही समान माना जाता है । इटाली भाषा सिसिली, सार्डिनिया कार्जिका आदि में बोली जाती है ।

२—रूमानि—रूमानिया, ट्रांसिल्वेनिया व ग्रीस के कुछ भागों की बोली है ।

(३) प्रोवेंशल-फ्रान्स के दक्षिणी भाग की बोली है ।

(४) फ्रेन्च-फ्रान्स की मुख्य भाषा है ।

(५) पुर्तगाली-पुर्तगाल की भाषा है ।

(६) स्पेनी-स्पेन की भाषा है ।

३ ग्रीक—

इस शाखा के अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ थीं । इन बोलियों में एटिक और डोरिक प्रधान थीं । संस्कृत से ग्रीक बहुत कुछ मिलती-जुलती है । परस्मैपद, आत्मनेपद, अव्यय बाहुल्य, सुर आदि बहुत सी बातें दोनों में इकसार हैं ।

* इन भाषाओं के समूह को रोमांस भाषा-समूह भी कहते हैं ।

४ जर्मनी—

इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कैल्टों ने किया था। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। इसे हाई और लो* दो भागों में बांटते हैं। दक्षिणी पार्वतीय प्रदेश की जर्मनी हाई, और उत्तरी प्रदेशों की जर्मनी लो जर्मनी कहलाती है।

जर्मनी परिवार की भाषाएँ आर्य-परिवार की अन्य शाखाओं की भाँति श्लिष्ट संयोगात्मक आकृति की हैं, और वियोगात्मक होती जा रही हैं। जर्मनी शाखा का महत्त्वपूर्ण लक्षण ध्वनि नियम है। इन ध्वनि नियमों में ग्रिम-नियम प्रसिद्ध नियम है।

५ तोखारी—

मध्य एशिया के तुर्फान प्रदेश की भाषा है। इस पर उराल-अल्ताई परिवार की भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। इसके संख्या वाची शब्द और सर्वनाम पूर्णतः आर्य हैं।

६ अल्बेनी—

इस भाषा का ध्वनि-समूह, और रूप रचना ऐसी है कि इसे स्वतंत्र सत्ता देनी पड़ी है। यह अल्बेनिया की भाषा है।

७ हिट्टाइट—

‘बोग्राजकोई’ के कीलाक्षर लेखों में इसका रूप मिलता है। यह आर्य वर्ग की भाषा है, क्योंकि इसमें कई बातें आर्य वर्ग से मिलती-जुलती हैं।

८ बाल्टी—

इस शाखा में तीन भाषाएँ हैं—प्रशियाई, लिथुएनी और लैटी। प्रशियाई आज वर्तमान नहीं है। लिथुएनी में ग्रीक की भाँति सुर का प्राधान्य, और द्विवचन के रूप हैं तथा यह लिथुआनिया

राज्य की भाषा है। लैटी लैटविया की भाषा है। इस पर कुछ-कुछ रूसो का भी प्रभाव है, क्योंकि यह भूभाग रूस में जा मिला है।

६ स्लावी—

बाल्टी और स्लावी मिलती-जुलती शाखाएँ हैं। स्लावी के तीन रूप हैं :—दक्षिणी स्लावी पूर्वी और पश्चिमी स्लावी। यह बल्गेरी, यूगोस्लाविया की बोली है, और सर्वोक्रोटी के नाम से भी प्रसिद्ध है।

१० अर्मीनी—

अर्मीनी अर्मीनिया की भाषा। ईरान और अर्मीनिया का राजनैतिक सम्बन्ध रहने से इस भाषा पर ईरानी का प्रभाव पड़ा और लगभग २०००, ३००० फारसी शब्द इसमें प्रवेश कर गये।

ईरानी-भारतीय शाखा

इस शाखा की ईरानी भाषा के साथ एक इतिहास जुड़ा है। इस भाषा में साहित्य रहा होगा। परन्तु, इसके ग्रंथ दो बार जला डाले गये—एक बार सिकन्दर द्वारा और दूसरी बार अरबों द्वारा। इसका प्राचीन रूप पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवेस्ता और कुछ शिला-लेखों में उपलब्ध है। ईरानी और भारतीय भाषाओं की प्राचीन अवस्थाओं में बहुत कुछ साम्य है। यथा—

संस्कृत—यो यथा पुत्र तरुणं सांमं वन्देत मर्त्यः

अवेस्ता—यो यथा-पुथम् तउरुनम् हओमम् वन्दएँता मश्यो।

फारसो—इसमें कीलान्तरों में खुदे हुए कुछ पुराने लेख मिलते हैं। इसी का एक रूप पहलवी है इस भाषा में अवेस्ता की टीका लिखी गई है। इसको एक शैली में सामी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। सामी के प्रभाव से प्रभावित फारसी को 'हुज्वारे' कहते हैं। इसकी दूसरी शैली सामी प्रभाव से सर्वथा वंचित है, इसको पार्सी या पाजन्द कहते हैं।

अवेस्ती-पारसी धर्म ग्रन्थों की भाषा है ।

दर्दी—ईरानी भारतीय शाखा की एक उप-शाखा* का नाम है । ये भाषा पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच के क्षेत्र में बोली जाती है । इसकी आकृति ईरानी और आर्य के बीच की है । इसी भाषा को पिशाच संज्ञा दी जाती है । दर्दी में कई समूह हैं । यथा—खोवार, काफ़िरी, और दर्दी विशिष्ट । इस भाषा में व्याकरण के प्राचीन लक्षण अधिक सुरक्षित हैं ।

भारतीय [आर्य] शाखा

इस शाखा को सुविधा की दृष्टि से तीन ऐतिहासिक वर्गों में बांटा जाता है :—

१—प्राचीनयुग ४०० ई० पू० तक

२—मध्ययुग ४०० ई० पू० से १००० ई० तक

और ३—वर्तमानयुग १००० ई० से अब तक

प्राचीन युग के अन्तर्गत वैदिक व लौकिक दो प्रकार की भाषाएँ मिलती हैं । धीरे-धीरे इन दोनों के भेद को मिटाने की चेष्टा की गई । इस चेष्टा के क्षेत्र में पाणिनी का स्थान महत्व का है । इस वैदिक भाषा की रक्षार्थ पद-पाठ, जटा व घन पाठ आदि कृत्रिम उपायों का सहारा लिया गया । धीरे-धीरे संस्कृत का जोर बढ़ा । संस्कृत के पोछे प्राकृत व पालि का युग आया । प्राकृतों के साथ-साथ मध्ययुग का आरम्भ होता है । मध्ययुग भी तीन भागों में बँटा है :—आदि, मध्य और उत्तर । आदिकाल में पालि और अशोकी प्राकृत हैं । पालि को सिंहल द्वीपी मागधी भी कहते हैं । प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि पालि पश्चिमी प्रदेश की भाषा रही होगी । पालि में बौद्ध धर्म के

*पैशाची प्राकृत से सम्भवतः दर्दी का सम्बन्ध है, क्योंकि दर्दी को भी पिशाच संज्ञा दी जाती है ।

ग्रन्थ, टीकाएँ तथा कथा-साहित्य आदि पर्याप्त मात्रा में हैं। पालि में 'स' ध्वनि का बाहुल्य और 'श' का अभाव, 'र' ध्वनि का अस्तित्व और 'ल' ध्वनि का उससे भेद ये ऐसे लक्षण हैं जो इसे पश्चिमी प्रदेश की भाषा ही सिद्ध करते हैं। ❀ पालि के कुछ ऐसे लक्षण भी हैं जो इसे उत्तरकालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से अधिक निकट सिद्ध करते हैं।

प्राकृत के उदाहरण अशोकी लेखों में मिलते हैं। जैन प्राकृतों में अर्धमागधी प्रसिद्ध है। मध्ययुग के मध्यकाल के अन्तर्गत जैन प्राकृतें व महाराष्ट्री आदि प्राकृतें आती हैं। प्राकृतों में शौरसेनी का बड़ा महत्व है। संस्कृत नाटकों में स्त्रीजन तथा मध्यमवर्ग की भाषा यही रही है।

शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास में माना जाता है। दो स्वरों के बीच में सं०—त्,—थ का शौरसेनी में द्,—ध हो जाता है और दो स्वरों के बीच की द्, ध् ध्वनियों में कोई बदल नहीं होता। यथा, 'गच्छति' का 'गच्छदि' तथा यथा—जधा, जलदः—जलदो, भोधः—भोधो।

मागधी—यह मगध देश की जनपदीय भाषा थी। सिंहल आदि बौद्ध देशों में पालि को ही मागधी कहा जाता है। मागधी के मुख्य लक्षण संस्कृत ऊष्म वर्णों (श, स, ष, और ह) के स्थान पर 'श' (सप्त—शत्त) 'र' की जगह 'ल' (राजा—लाजा) एवं अन्य प्राकृतों की 'ज्' ध्वनि के स्थान पर 'य्' और 'ज्' की जगह 'य्य्' ध्वनि हो जाती हैं।

पैशाची प्राकृत में कभी बहुत ऊँचा साहित्य था। गुणाढ्य की वृहत्कथा इसी भाषा में थी। पैशाची एक प्रकार की प्राकृत है इससे इसके लक्षण प्राकृत व्याकरणों में ही मिलते हैं। पैशाची का मुख्य

❀ सम्भवतः इसी कारण लोग पालि को संस्कृत के निकट रखते हैं।

लक्षण यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वर के बीच आने वाले सघोष स्पर्श वर्ण इसमें अघोष हो जाते हैं। यथा—गगनं-गकनं, मेघो-मेखो। पैशाची का एक रूप चूलिकापैशाची नाम से भी प्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतों के शाकारी, ढक्की, शाबरी चांडाली आभीरी और अवन्ती आदि भेदों का भी उल्लेख मिलता है। ये एक प्रकार से सब मागधी की बोलियों के ही नाम हैं।

आधुनिक देश भाषाएँ

अपभ्रंश - यह उत्तरकाल की भाषा है। अपभ्रंश के श्रीमार्कण्डेय ने तीन भेद माने हैं—नागर, उपनागर व प्राचड़। अपभ्रंश से ही आधुनिक देश भाषाओं का उदय हुआ है। आधुनिक देश भाषाओं में:—

लहंदी—(बोलने वाले ६६ लाख) पंजाब के पश्चिम में चलती है।

सिंधी—(बोलने वाले ४० लाख) सिन्धु प्रान्त में चलती है।

मराठी—(बोलने वाले २ करोड़ ६ लाख) महाराष्ट्र में चलती है।

उड़िया—(बोलने वाले १ करोड़ १२ लाख) उड़िया या उत्कल प्रान्त में बोली जाती है।

बिहारी—(बोलने वाले २ करोड़ ७६ लाख) यह मैथिली, मगही, भोजपुरी का समूह है और बिहार प्रान्त इसका प्रदेश है।

बंगला—(बोलने वाले ५ करोड़ ३५ लाख) बंगाल प्रान्त में चलती है। इसके लिखित व उच्चारित रूप में बहुत अन्तर है।

आसामी—(बोलने वाले २० लाख) आसाम प्रान्त में प्रयुक्त होती है।

हिन्दी—(बोलने वाले ७ करोड़ ६४ लाख) यह मध्यदेश की भाषा है, आजकल स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र भाषा यही है।

राजस्थानी—(बोलने वाले १ करोड़ ३६ लाख) ये मारवाड़ी, मेवाड़ी, मेवाती, हाड़ौती और जयपुरी चार भागों में बँटी है, और राजस्थान प्रान्त की मुख्य भाषा है।

गुजराती—(बोलने वाले १ करोड़ ६ लाख) गुजरात प्रान्त में ।
काठियावाड़ तथा कच्छ में भी चलती है ।

पंजाबी—(बोलने वाले १ करोड़ ३६ लाख) पंजाब प्रान्त में
चलती है ।

भीली—(बोलने वाले २२ लाख) मध्य भारत, खान्देश
व राजपूताने के जंगलों में चलती है ।

पहाड़ी—(बोलने वाले २८ लाख) हिमालय के निचले भागों
में चलती है । इनके अतिरिक्त हबूड़ी, जिप्सी व सिंहली भी इसी
वर्ग के अन्तर्गत हैं ।

कुछ भाषा विशेषज्ञ लोग व्याकरण व उच्चारण की समता के
आधार पर इन्हें अलग-अलग समुदायों में बाँटते हैं । वे समुदाय
ये हैं :—

अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, मध्यवर्ती

डा० प्रियर्सन महोदय ने भाषा सर्वे के समय आर्य भाषाओं
को तीन शाखाओं में बाँटा है:—अन्तरंग, बहिरंग और मध्यवर्ती ।

वर्गीकरण-वृत्त इस प्रकार है :—

[ग] पूर्वी वर्ग—

(१) बहिरङ्ग शाखा—

१—आसामी

२—बंगला

३—उड़िया

४—बिहारी

[क] पश्चिमोत्तर वर्ग—

१—लहदा

२—सिन्धी

(२) मध्यवर्तीशाखा—

[ख] दक्षिणी वर्ग—

१—मराठी

[घ] मध्यम वर्ती वर्ग

१—पूर्वी हिन्दी

* ब्राह्म अपभ्रंश का एक लक्षण, आदिम त् द ध्वनियों को ट्
ड् हो जाना, सिन्धी में मिलता है ।

(३) अन्तरङ्ग शाखा

(ङ) केन्द्र वर्ग

- १—पश्चिमी हिन्दी
- २—पंजाबी
- ३—गुजराती
- ४—भीली
- ५—खान्देशी
- ६—राजस्थानी

(च) पहाड़ी वर्ग

- १—पूर्वी पहाड़ी, या नैपाली
- २—केन्द्रीय पहाड़ी
- ३—पश्चिमी पहाड़ी

यों १७ भाषाएँ ६ वर्गों में और तीन शाखाओं में बाँटी गई हैं ।

इसके विपरीत डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषाएँ एक साथ नहीं रह सकती, इस सिद्धान्त पर भाषाओं का वर्गीकरण इस भाँति किया है—

चटर्जी का वर्गीकरण-वृत्त

(क) उदीच्यवर्ग

- १—सिन्धी
- २—लहँदा
- ३—पंजाबी

(ख) प्रतीच्य वर्ग

- १—गुजराती
- २—राजस्थानी

(ग) मध्य वर्ग

- १—पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य वर्ग

- १—पूर्वी हिन्दी
- २—बिहारी
- ३—बँगला
- ४—आसामी

- ५—उड़िया

(ङ) दाक्षिणात्य वर्ग

- १—मराठी

चटर्जी ने पहाड़ी को राजस्थानी का ही रूपान्तर कहा है, पर निश्चित रूप से पहाड़ी को किसी वर्ग में रख सकना सहज नहीं

चटर्जी का ऐसा भी मत है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि पहाड़ी भाषाओं का एक भिन्न ही वर्ग मानना ठीक हो सकता है।

उक्त दानों वर्गीकरणों में सरल, सुबोध और वैज्ञानिक वर्गीकरण चटर्जी का ही है इसका कारण यह है कि सदा से मध्यदेश की ही भाषा राष्ट्रभाषा होती आई है, और आज भी पश्चिमी हिन्दी, जो मध्यदेशीय भाषा है, राष्ट्रभाषा है, अतः उसे अर्थात् हिन्दी को ही केन्द्र मानकर उसके चारों ओर भाषाओं के वर्ग बाँधकर अध्ययन करना सुविधाजनक और वैज्ञानिक सिद्ध होता है।

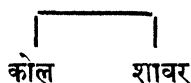
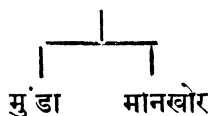
भारत के पाँच आर्य व अनार्य भाषा-परिवार

भारत में पाँच से अधिक आर्य व अनार्य परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इन पाँचों परिवारों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—आस्ट्रिक (आग्नेय) परिवार—

अ--इन्डोनेशियन (मलय द्वीपी)

आ--आस्ट्रोएशियाटिक



२—एकाक्षर परिवार—(चीनी तिब्बती)

अ—श्यामीचीनी

आ—तिब्बती बर्मी

*मोन-ख्मेर दो अलग २ बोलियाँ हैं। मोन-ख्मेर एक जाति और एक राज्य था, उसी के पीछे इन बोलियों का भी नाम पड़ गया है।

३—द्राविड़ परिवार ।

४—आर्य परिवार (भारत-ईरानी भाषाएँ)

अ—ईरानी शाखा

अः—दरद शाखा

इ—भारतीय आर्य शाखा

५—विविध भाषा परिवार (अनिश्चित समुदाय)

अ—ब्रह्मदेश की अनेक भाषाएँ ।

मुंडा उस आग्नेय (आस्ट्रिक) परिवार की भाषा है जो पंजाब से न्यूजीलैन्ड तक उत्तर-दक्षिण; मदागास्कर से ईस्टर द्वीप तक पूर्व-पश्चिम में फैला हुआ है ।

मि० पेटर डब्ल्यू शिमट ने इस परिवार की भाषाओं की खोज की । इस परिवार की भाषाएँ दक्षिणी*द्वीपों में भी फली हुई हैं, इसी से इस परिवार का नाम आग्नेय परिवार रखा गया है । भारत में इस परिवार की भाषाएँ अग्निकोण में स्थित देशों में ही अधिक हैं इससे भी इस परिवार को आग्नेय परिवार कहना ही संगत है । इस परिवार के दो बड़े स्कन्ध हैं—१ आग्नेय देशी, और २ आग्नेय द्वीपी । आग्नेय द्वीपी की भी तीन शाखाएँ हैं—१ स्वर्ण-द्वीपी २—पापुवा द्वीपी, और ३—सागर द्वीपी । आग्नेय द्वीपी की शाखा को ही मलय पालीनीशियन भाषा वगं भी कहते हैं ।

आग्नेय देशी भाषाएँ भारत के कई भागों में बोली जाती हैं । मुंडा और मानख्मेर इनमें उल्लेखनीय हैं । मानख्मेर की

* दक्षिण की ओर आग्नेतत्त्व का प्राधान्य है, और उत्तर की ओर सोमतत्त्व का । यही कारण है, दक्षिणीद्वीपों की भाषाएँ आग्नेय परिवार की कहलाती हैं ।

† 'पल्लोग' और 'वा' ये दो भिन्न २ बोलियाँ हैं, परन्तु, अब इन्हें मिलाकर ही बोलने की प्रथा चल गई है ।

तीन बोलियां हैं—पलौंगवा,† खासी, निकोबारी । भारत की दृष्टि से आग्नेय परिवार की प्रमुख भाषा मुंडा है । यह पश्चिमी बंगाल से बिहार, मध्यप्रान्त, मध्यभारत, उड़ीसा व मद्रास के गंजाम जिले तक बोली जाती है । वैसे इसका मुख्य स्थान विन्ध्यमेखला (छोटा नागपुर, सैंथाल) प्रदेश है । मुंडा की प्रमुख बोलियां कुकूर्क, खडिया, जुआंग, शाबर, गदबा आदि हैं । मुंडा भाषा-भाषियों की संख्या इस समय । लगभग उन्तालीस लाख के ऊपर है । मुण्डा तुर्की की भांति प्रत्यय प्रधान भाषा है ।

भारतीय भाषाओं पर मुंडा का प्रभाव

मुंडा का ध्वनि सम्बन्धी प्रभाव तो अभी विवादास्पद विषय हैं, परन्तु रूप-विकार की दृष्टि से मुंडा का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव स्पष्ट है । बिहारी भाषा की क्रियाओं की जटिल काल रचना मुंडा की ही देन है । उत्तम पुरुष से सर्वनाम के दो-दो रूप (श्रोता व वक्ता) के लिए अलग-अलग मुंडा का ही विशेष लक्षण है, और यह गुजराती व हिन्दी में भी पाया जाता है । यथा—‘अपन गये थे’ और ‘हम गये थे’ दोनों में भेद स्पष्ट है । वैसे ही गुजराती में ‘अमे गया हता’ और ‘आपणे गया हता का प्रयांग है।’ इसके अतिरिक्त मुंडा के संख्या वाचक शब्द भी भारतीय भाषाओं में आये हैं । यथा—मुंडा का शब्द कुड़ी, हमारे यहां कौड़ी (२०) बीस के अर्थ में आता है । इसी प्रकार अन्य अनेक लक्षण हैं जो मुंडा व आर्य भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं ।

(इ)

भाषा विज्ञान की खोज का इतिहास

क—भारत का क्षेत्र

भारत में भाषा-विज्ञान का क्षेत्र उस समय पनप चला था जब पश्चिम ने घुटनों चलना भी न सीखा था । यह समय

था ईसा से ८००, ६०० वर्ष पूर्व । यहां वेदों को अपने असली रूप में सुरक्षित रखने के लिए शाकल्यमुनि ने पहिले पद पाठ बनाया । फिर ब्राह्मण-ग्रन्थों में ध्वनि (शिक्ता) व व्याकरण के तत्त्व खोजे गये । पीछे संहिता ग्रन्थ व प्रातिशाख्य बने । यह भारत ही है जहां श्रौत्यास्क के निरुक्त द्वारा संसार में सबसे पहिले अर्थ विज्ञान का श्रोगणेश किया था । इसके पश्चात् पाणिनी ने १४ माहेश्वर सूत्रों में सारा ध्वनि विज्ञान भर दिया । भिन्न-भिन्न विभक्तियों की और धातुओं की सिद्धि की । व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनी की छाप अमिट है । इसके पीछे इस क्षेत्र में नागोजी भट्ट, कय्यट, जीवसिद्धि, पंतर्जलि, कार्त्यायन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । आधुनिक युग में भाषा विज्ञान के क्षेत्र में निम्न सज्जनों की कीर्ति अमर है । सर्व श्री डा० सिद्धेश्वर ने दरद भाषाओं के क्षेत्र में कार्य किया है—हीरालाल जैन ने अपभ्रंश के क्षेत्र में, बनारसीदास जैन ने पंजाबी के क्षेत्र में, धीरेन्द्र वर्मा महोदय ने ब्रजभाषा क्षेत्र में, और श्री सकसेना ने अवधी के क्षेत्र में कार्य किया है । रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर महोदय ने पश्चिमी भाषा विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के अनुभव पर विलसन व्याख्यान माला जैसी अनुपम पुस्तक हमें दी है । इनके अतिरिक्त श्री श्यामसुन्दरदास, डा० मङ्गलदेव, डा० सान्याल व चटर्जी एवं अन्य दो एक सज्जनों ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है ।

ख-पश्चिम का क्षेत्र

यूरोप में भाषा पर विचार भारत की अपेक्षा बहुत पीछे आरम्भ हुआ है । यूरोप की सभ्यता का केन्द्र ग्रीस देश रहा है । ग्रीस के दार्शनिक व तत्त्ववेत्ता श्री अरस्तु ने भाषा का विश्लेषण कर पदों में विभाजन किया था । श्री प्लेटो ने विचार

को भाषा का अन्तरङ्ग रूप माना तथा ग्रीक भाषा की संघोष व अघोष ध्वनियों का वर्गीकरण किया। इनके पोछे श्री थिरेस ने ग्रीक भाषा का सर्व प्रथम व्याकरण बनाया। जब सभ्यता का क्षेत्र रोम बना तो लैटिन और ग्रीक दोनों भाषाओं का अध्ययन होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि लैटिन का प्रभुत्व सारे यूरोप पर जम गया। इधर अठारहवीं शती में कुछ संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पश्चिम में पहुँचे। संस्कृत, लैटिन और ग्रीक की समता देख कर लोगों को आश्चर्य हुआ, और आदिम भाषा की खोज की ओर संसार का ध्यान गया।

भाषा के उद्गम के विषय में दार्शनिक विद्वान्‌रूसों कौडिलक, हर्डर व जैनिश आदि ने भिन्न-भिन्न मत स्थिर किये। इस विषय में हर्डर महोदय की गवेषणा सर्वोत्तम मानी जाती है। श्री हर्डर का मत है कि भाषा स्वभावतः ही मनुष्य की प्रकृति से निकल पड़ी है। न वह ईश्वर की देन है, और न उसे किसी ने एक साथ बैठकर बनाया है, और न वह भावातिरेक का ही फल है। इस प्रकार श्री पं० हर्डर व पं० जैनिश पश्चिमीय भाषा विज्ञान के आधुनिक रूप के जन्मदाता हैं। १६ वीं शती में यूरोप का भाषा विज्ञान कुछ आगे बढ़ा। पश्चिम में इस भाषा विज्ञान सम्बन्धी विकास में संस्कृत का ही प्रमुख हाथ रहा है, यह निर्विवाद है। सर्व प्रथम श्री विलियम जॉस ने संस्कृत का महत्त्व बतलाया था। पश्चिम के भाषा विज्ञानियों को दो भागों में बांटा जा सकता है—(१) प्राचीन और (२) अर्वाचीन।

प्राचीन युग में

श्री फ्रेडरिक वान, श्री श्लेगेल, श्री अडोल्फ, श्री रेम्स रैस्क, जेकब ग्रिम, फ्रैंज बाप, पाट, मैक्समूलर, ह्रिटनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जेकब ग्रिम ने भिन्न-भिन्न

भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ध्वनि नियम बनाये हैं। बाप ने यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन कर संस्कृत भाषा से तुलना की है। हम्बोल्ट ने जावा की भाषाओं का अध्ययन किया है। मैक्समूलर महोदय ने भाषा विज्ञान पर व्याख्यान दिये हैं एवं वैदिक साहित्य पर भी प्रकाश डाला है। ह्विटनी संस्कृत भाषाओं के विरोषज्ञ वैयाकरण पंडित थे।

* नवयुग में

श्री स्टाइनथल व श्री हेनरी स्वीट (महा वैयाकरण) हुए हैं। इस युग में व्याकरण व भाषा विज्ञान का केन्द्र जर्मनी में रहा। फिर यह केन्द्र फ्रान्स में पहुँच गया। सामान्य भाषा विज्ञान व अँगरेजी भाषा विज्ञान पर विशेष कार्य करने वाले मि० आटो जेस्परसन हैं। पश्चिमीय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हमारे रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का नाम भी उल्लेखनीय है। ट्रम्प, टरनर, केन्डवेल, ब्रोल आदि-आदि अनेक जर्मन व फ्रँच विद्वानों ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है।

(ई)

लिपि के विकास का इतिहास

भाषा का उपयोग मनोभावों को व्यक्त करने में होता है। यह मनोभाव एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर प्रकट किये जाते हैं, परन्तु, इस कार्य के लिये श्रोता व वक्ता का एक देशत्व व एक कालत्व परमावश्यक है। जब यही कार्य किसी अन्य देशस्थ व्यक्ति के

* नये युग में व्याकरण के नियमों का बल कम हुआ और ध्वनि नियमों के अपवाद असंभव माने जाने लगे। पद-रचना में सादृश्य का महत्त्व बढ़ा। भाषा के ध्वनिजात और अर्थजात दो भेद किये गए। तथा भाषा के उद्गम सिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया।

साथ करना होगा तब किसी अन्य उपाय का अवलम्बन भी आवश्यक हो जायगा । अपने भावों को भिन्न देश व भिन्न कालस्थ मनुष्य तक पहुँचाने के लिए ही मनुष्य को अपने भावों को अंकित करने की आवश्यकता हुई, और इसी आवश्यकता के मूल में लिपि के श्रीगणेश का मूल-सिद्धान्त निहित है ।

आरम्भ में लोगों ने दूर देशस्थ मनुष्य पर भाव प्रकट करने के कार्य को सिद्ध करने के लिये श्रोत्रग्राह्य शब्दों के प्रतिरूप कुछ ऐसी चीजें निकालीं जो नेत्रग्राह्य भी हो सकें । उदाहरणार्थ पीरुदेश में 'कुइपु' नाम की डोरियों में रंगबिरंगे धागों को बांधकर उनमें गांठ दे-देकर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट किये जाते थे । यथा, लाल रंग से 'सोने' और 'युद्ध' का भाव प्रकट किया जाता था । ये सभी उपाय केवल संकेत रूप में ही थे । इस प्रकार के संकेतों के लिए किसी विशेष शब्द के माध्यम की आवश्यकता नहीं रहती थी । यथा— विभिन्न जातियों में 'युद्ध' का भाव भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है, किन्तु लाल रंग समान रूप से सभी जातियों में 'युद्ध' का द्योतक हो सकता है । इस प्रकार के स्मृति-संकेतों में मिश्र देश के चित्र-संकेत अधिक सरल और भावपूर्ण थे । यथा— दौड़ते हुए हरिण या बछड़े के पास पानी का चित्र प्यास के भाव का उद्बोधक हो सकता है । समय के साथ-साथ, किन्तु, धीरे-धीरे चित्र लिपि के ये चित्र-संकेत भी बदले । शीघ्रता से भाव प्रकट करने वाली प्रवृत्ति का प्रभाव चित्र-संकेतों पर भी पड़ा, और परिणाम यह हुआ कि शीघ्रता के कारण खराब खिंचे हुए चित्र अपने मूल रूप से दूर हट गये, उनमें भावों को उचित रूप से व्यक्त करने की शक्ति शिथिल पड़ गई । इस प्रकार ये बिगड़े हुए चित्र, जो सार्वत्रिक संकेत थे, संकुचित हो गये । केवल इनके लेखक ही अब इनसे भाव समझ सकते थे कि जिससे लिपि का उद्देश्य सफल

होना असम्भव सा हो गया था। मनुष्य के भावों को वहन करने वाले ये भ्रष्टचित्र-संकेत धीरे-धीरे कालक्रम से एक प्रकार के विशिष्ट ध्वनि-समूह का ज्ञान कराने लगे। इस कल्पना को चीनी भाषा के एकाक्षर ध्वन्यात्मक शब्दों का बल मिलता है। चीन में भी पहिले चित्रलिपि का ही प्रचार था, और वहाँ की चित्रलिपि के बिगड़े हुए रूप ने ही एकाक्षरी ध्वनि-संकेत का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार के विवेचन से इस निर्णय पर पहुँचा जाता है कि लिपि के विकास-क्रम में पहिले सम्पूर्ण बात या वाक्य का ज्ञान कराने वाला एक चित्र, फिर इन चित्रों से विकसित हुए उनके उद्बोधक संकेत एवं फिर इन संकेतों से अक्षर और अक्षरों से तब लिपि का उद्भासन हुआ है।

चीन में ईसा से २००० वर्ष पूर्व ही लिपि ने अक्षर रूप प्राप्त कर लिया था ऐसा पता चलता है। संसार में चीन व जापान के अनिरिक्त मैसोपोटेमिया में सुमेरी जाति ने भी लिपि के विकास में पर्याप्त प्रयत्न किया है। कहीं भी देखिये लिपि के विकास के मूल में चित्र का स्थान ही सर्वप्रथम सर्वत्र रहा मालूम पड़ता है। सुमेरी जाति के भावों के व्यक्त करने में भी चित्र का ही प्राधान्य है। इस प्रकार के चित्र-संकेत जब सामी लोगों के हाथ पड़े तो उन्होंने इन्हें अक्षर रूप में परिणत करने का पहिला प्रयास किया। ईरानियो ने इन्हीं अक्षर-संकेतों को कील से लिखकर प्रयोग किया इसी से इन्हें कीलाक्षर संज्ञा भी दी गई है। कीलाक्षर लिपि का एक रूप दारा के पुराने लेखों में, जिन्हें कीलाक्षर लेख कहते हैं, मिलता है।

यूरोप की लिपियाँ

वर्तमान यूरोप की सभी लिपियाँ ग्रीक लिपि से विकसित हुई हैं। ग्रीक लिपि के लेख थेरा द्वीप में ई० पू० ६ वीं शती तक के मिलते हैं। ग्रीक लिपि के वर्णों के नाम सामी हैं। सामी लिपि

अक्षरात्मक थी और उसका विकास सुमेरी संकेतात्मक चित्रों से ही हुआ था अतः कह सकते हैं, ग्रीक लिपि के भी मूल में सर्वप्रथम चित्र लिपि का ही हाथ रहा है। इसका दूसरा प्रमाण यह भी है कि रोम के उत्थान के पूर्व इटली की भाषा 'एत्रुस्कन' के लेख जिस लिपि में लिखे जाते थे वह लिपि भी एशियामाइनर से ही यहां आई थी कि जिस एशियामाइनर की लिपि का मूलरूप चित्रलिपिमय ही रहा था। पीछे इसी को 'रोमन लिपि' नाम दिया गया और अब यह लिपि इसी नाम से विख्यात भी है। आरम्भ में रोमन लिपि में २३ वर्ण थे, बाद में २६ हो गये जो अब तक वर्तमान हैं। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों में 'रूनी' लिपि थी। इसका, कहते हैं, ग्रीक लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लिपि के विषय में विवेचना करने पर पता चला है कि केल्टी की ओघ लिपि रूनी से ही निकली है, और इसका समय ५ वीं शती है। अर्मीनी लिपि के चौथी शती के लेख मिलते हैं, परन्तु, इसके लिये हमें दां मत प्राप्त हैं—(१) कोई कोई इसे ईरानी से सम्बन्धित कहते हैं एवं (२) कोई-कोई इसका सम्बन्ध ग्रीक-लिपि से जोड़ते हैं। वास्तव में यह लिपि सारिया देश के 'सिदिली' स्थान की लिपि है। यही लिपि उत्तरी प्रांतों की प्रमुख लिपि थी। उत्तरी प्रांतों की लिपि होने के नाते इसका सम्बन्ध रूनी से भी पड़ जाता है। इस प्रकार संसार के लिपि-विकास के इतिहास में एक प्रकार की सुशृङ्खलता भी आजाती है, और सभी लिपियों का आधार चित्र लिपि ही रह जाती है कि जिससे लिपि के विद्यार्थी की बहुत सी अड़चन दूर होजाती है। अर्मीनी लिपि से ही हिब्रू व अरबी लिपियों का निकास हुआ है। अरबी लिपि के दां रूप हैं—(१) कुफ्री और (२) नेस्खी।

भारतीय लिपियाँ

इस प्रकार संसार की दृष्टि से लिपि के विकास पर विचार

कर चुकने पर भारत के लिपि-प्रश्न पर भी ध्यान देना आवश्यक होजाता है। भारत संसार की सभ्यता की जन्मभूमि रहा है। वैसे मिश्र व चीन की सभ्यता भी भारत के ही समान अति प्राचीन है, परन्तु, फिर भी भारत की सभ्यता में अध्यात्म ज्ञान व विज्ञान का प्रामुख्य होने से बहुत कुछ अंशों में भारत ही विश्व गुरु रहा है। जिस प्रकार यहाँ की भाषा अति प्राचीन है, लिपि सिद्धान्त भी यहाँ का निराला ही रहा होगा। भारत की प्राचीनता पर कई बार परिवर्त्तनों का प्रवाह आया। यही कारण है इस देश की आदिम सभ्यता का असलीस्वरूप क्या था इसका पता चलाना संभव नहीं। इस देश के साहित्य, इसकी संस्कृति व सभ्यता में कई बार बदल हुए हैं अतः कहा नहीं जा सकता कि लिपि के विषय में यहाँ का आदिम रूप क्या था ? परन्तु, यहाँ आधुनिक दृष्टि से सर्व प्रथम लेख अशोक प्रियदर्शी के हैं। इन लेखों की लिपियाँ ब्राह्मी व खरोष्ठी हैं। खरोष्ठी लिपि के लेख ई० पू० तीसरी शती के हैं। खरोष्ठी का रूप अर्मी से ही परिवर्तित सा प्रतीत होता है। यह विवेक करना कठिन है कि खरोष्ठी से अर्मी का कलेवर सम्पन्न हुआ, या अर्मी से खरोष्ठी का, परन्तु इतना स्पष्ट है कि लिपि विकास का सूत्र चाहे कहीं से चला हो, है एक ही। ब्राह्मी लिपि से भारत की समस्त वर्त्तमान लिपियों का निकास हुआ है यह निर्विवाद है। खरोष्ठी लिपि यहाँ इस देश में पनपी नहीं इसी कारण ब्राह्मी का पंजा अंचा होता चला गया। खरोष्ठी के लिये ज्ञात हुआ है कि चीनी तुर्किस्तानी में भी यही लिपि चालू थी। खरोष्ठी को लेकर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार किया है। श्री कनिंघम, ओम्हा, और लैसेन इसे भारत को मौलिक उत्पत्ति मानते हैं।

भारतीय लिपि-सामग्री

भारत में मोहनजोदड़ों, और हड़प्पा के ईस्वी सन् से कई हजार वर्ष पुराने लेख मिले हैं। इन लेखों की लिपि ब्राह्मी और खरोष्ठी से भिन्न ही है। लोगों का कहना है ये लेख किसी ऐसी लिपि के हैं जिसका वैदिक सभ्यता से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। साथ ही हैदराबाद (दक्षिण) में १६१७ की खुदाई में मिट्टी के बर्तनों पर खुदे कुछ लेख मिले हैं। इनकी लिपि भी ब्राह्मी से भिन्न है। अशोक के लेखों से पहिले के एक-दो छोटे लेख, बली (अजमेर) में और नैपाल की तराई में मिले हैं। इन लेखों की लिपि अशोक से पहिले संभवतः भारत में चलती रही हो।

भारत में लिपि-ज्ञान की प्राचीनता

श्री आम्ता का मत है, भारत में लिपिज्ञान के प्रमाण बहुत प्राचीन मिलते हैं। बौद्ध त्रिपिटक, ब्रह्मजाल सुत्त (सूत्र), छान्दाग्योपनिषद् आदि में 'अक्षर' शब्द का प्रयोग मिलना ऐसा ही प्रमाण है। पाणिनी की अष्टाध्यायी में 'लिपि' व 'लिबि' शब्दों का मिलना आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं, जिन से भारत के लिपि ज्ञान की प्राचीनता सिद्ध है। जो जाति व्याकरण का सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार कर सकती हो, जो जाति छन्दों का विश्लेषण कर सकती हो, उसके यहाँ लेखन की कला न रही होगी यह बात असंभव सी प्रतीत होती है।

भारत में अंक लेखन

ऋग्वेद सब से प्राचीन पुस्तक है। इस में अष्टकर्णी गायों के दान का उल्लेख आया है। इससे सिद्ध है कि हमारे यहाँ गायों के कान पर आठ एवं अन्य संख्याओं के अङ्क अंकित रहते थे। इसके सिवा एक जुआरी की उक्ति मिलती है उसमें

‘एक’ शब्द आया है। इन प्रमाणों के बल पर कहा जा सकता है, भारत का अंक ज्ञान संसार में बहुत प्राचीन है। ई० पू० चौथी शती में रुई से कागज बनाने तक का चलन यहाँ पर चालू था। इन सभी बातों से लिपि की प्राचीनता भारत में असंदिग्ध सिद्ध हो रही है।

(१) खरोष्ठी लिपि

भारत की मुख्य लिपियाँ:—(१) खरोष्ठी और (२) ब्राह्मी हैं। अशोक के शाहबाज गढ़ी के और मानसेरा के लेख खरोष्ठी में हैं। इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्कों पर भी मिला है। अशोक के पीछे यह लिपि भारत में विदेशी राजाओं के सिक्कों पर ही मिलती है। यह लिपि दाईं से बाईं ओर लिखी जाती जाती है; और पश्चिमोत्तर पंजाब की ओर ही अधिक प्रचार में रही है। इसका मेल अरमइक अक्षरों से निकट बैठता है। इससे सिद्ध है कि अरमी का ही रूपान्तर खरोष्ठी लिपि है।

(२) ब्राह्मी लिपि

इस लिपि के लेख देश में चौथी शती ई० पू० के मिलते हैं भारत की यही सर्वश्रेष्ठ लिपि है। जैनों के पद्मवणसूत्र में और समवायंग सूत्र में १८ लिपियों (बंगी, जबणालिया, दोसापुरिया खराही) आदि का उल्लेख है। ललितविस्तर ग्रन्थ में अंग बंग आदि ६४ लिपियों के नाम मिलते हैं, इनमें प्रथम ब्राह्मी और दूसरी खरोष्ठी है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में दो मत हैं। एक मत तो इसे विदेशी देन कहता है, दूसरा इसे भारत की ही उपज मानता है। श्री विलसन, प्रिंसप सेनार्ट आदि विद्वान इसे ‘फोनेश लिपि’ से उत्पन्न मानते हैं। श्री डीके का विचार है यह असीर कीलाक्षरों से उत्पन्न है। श्री बेबर बूलर व जोन्स इसे ‘सामी’ से

जोड़ते हैं। सामी से ब्राह्मी का सम्बन्ध जोड़ने में बूलर महोदय ने मनमानी अटकलें लगाने का वृथा श्रम किया है। हर तरह से विचार करने पर परिणाम यही निकलता है कि ब्राह्मीलिपि का सम्बन्ध ऊपर कही हुई किसी लिपि से नहीं बल्कि यह स्वतन्त्र भारतीय आर्यों की अपनी निजी खोज है।

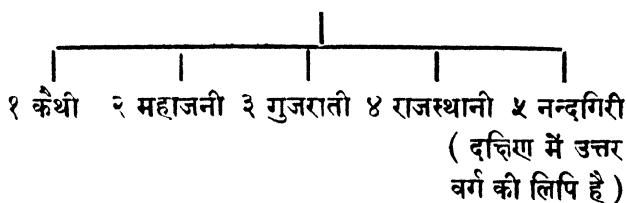
ब्राह्मी लिपि के नामकरण पर भिन्न-भिन्न मत

कुछ लोग कहते हैं ब्रह्म देवता ने इस लिपि को खोजा है इसी से इसका नाम ब्राह्मीलिपि है। किसी का कहना है कि ब्रह्मज्ञान की रक्षा इसी लिपि में की गई है इसी से इसका नाम ब्राह्मी लिपि प्रसिद्ध हो गया है। कुछ भी हो यह लिपि इसी देश की उपज है। डा० तारापुरवाला इसे हैदराबाद में पाये गये प्रागतिहासिक युग के वर्तनों पर के संकेतों से उत्पन्न मानता है।

ब्राह्मी के दो प्रकार दिखाई देते हैं—(१) उत्तरी और (२) दक्षिणी। उत्तरी विन्ध्याचल के उत्तर में, और उसके दक्षिण में दक्षिणी रूप। ब्राह्मी के उत्तरी वर्ग में पांचाली लिपि का भी समावेश होजाता है। इसके अतिरिक्त इसी वर्ग में—(१) गुप्त लिपि, (२) कुटिल लिपि, (३) नागरी लिपि, (४) शारदा लिपि, (५) बंगला लिपि आदि-आदि भी हैं।

(३) नागरी लिपि

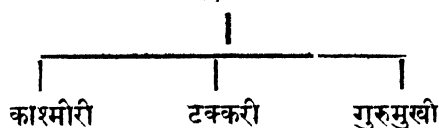
नागरी लिपि में



ये पाँच लिपियाँ प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ब्राह्मी के उत्तरी वर्ग में ही शारदा लिपि में भी निम्नलिखित तीन लिपियाँ प्रसिद्ध हैं:—

(४) शारदा लिपि

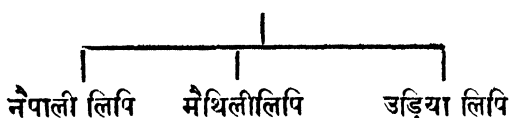
शारदा लिपि



बंगला लिपि में भी, इसी प्रकार, तीन लिपियों का समावेश है:—

(५) बंगला लिपि

बंगला लिपि



ब्राह्मी लिपि के क्षत्रिणी वर्ग में ६ लिपियाँ हैं। १—पश्चिमो २—मध्यदेशी, ३—तेलगू कन्नडी, ४—ग्रन्थ लिपि, ५—कलिंग लिपि और ६—तामिल लिपि। ये ६ लिपियाँ क्रमशः नीचे लिखे स्थानों पर चलती हैं:—

१—नासिक में, २—बुन्देलखण्ड में व हैदराबाद में, ३—बम्बई और हैदराबाद में, ४—मद्रास प्रान्त में, ५ व ६—कलिंग और तामिलनाडु प्रान्तों में। अन्तिम तामिल लिपि से 'वट्टे-लुत्तु' नाम की लिपि भी निकली है।

नागरी लिपि ६ वीं शती से प्रचलित है। आज के संस्कृत ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे गये हैं। नैपाल की राज लिपि यही है।

(३)

सं—‘पितृ’

जर्मन—‘वैटर’

लैटिन—‘पैटर’

डच—‘वैडर’ आदि-आदि

गाथिक—फ़ैडर

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि जहाँ संस्कृत आदि में सघोष स्पर्श हांते हैं अङ्गरेजी में वहाँ अघोष स्पर्श देखे जाते हैं। यथा—

सं०—‘गो’

अङ्गरेजी—‘कारू’

„ --‘द्वि’

„ ‘टू’ इत्यादि

परन्तु ग्रिम का यह ध्वनि नियम आज वैज्ञानिक नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि ग्रिम महाशय ने दो भिन्न २ कालों के ध्वनि विकारों को एक साथ रखकर अपना सूत्र बनाया था। ग्रिम ने जिन दो वर्णों के परिवर्तन का सम्बन्ध स्थिर किया है उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं जितना वे समझते हैं! इस दूसरे परिवर्तन का सम्बन्ध केवल श्रूटानिक भाषाओं ही से है, आदिकालीन भारोपीय भाषाओं से नहीं। तीसरी बात यह है कि ग्रिम ने अपने नियम की उचित सीमाएँ भी निर्धारित नहीं की थीं। इन्हीं बातों को लेकर ग्रिम के अपवाद रूप में श्री ग्रासमान व हर्नर महोदय ने पीछे कुछ उपनियम बनाये हैं जो इस प्रकार हैं:—

ग्रासमान का उपनियम

ग्रासमान ने बतलाया है कि ग्रीक में जहाँ क, त, प (K.T.P) होता है, जर्मन में वहाँ ग, द, ब (G.D.B) हो जाता है। परन्तु, ग्रासमान महोदय ऐसे स्थान पर क, त, प को प्राचीनतर महाप्राण-स्पर्शों के स्थानापन्न मानते हैं। ग्रासमान के इस ध्वनि-उपनियम

के विरुद्ध उदाहरण मिलने पर हर्नर महोदय ने एक तीसरा नियम बनाया ।

हर्नर का ध्वनि उपनियम

हर्नर का कहना है कि शब्द के मध्य में आनेवाले क, त, प, स (K. T. P) और (S) के अव्यवहित पूर्व में यदि भारोपीय काल में कोई उदात्त स्वर रहता है तो क, त, प और स, के स्थान में ह, प, फ, और स, (H.P.F) और (S) आते हैं, अन्यथा ग (ग्व) द, ब, G, (Gw) D. B और 'र' (R) की ध्वनि आती है । जहाँ इन उपनियमों के विरुद्ध उदाहरण मिलते हैं वहाँ उनका कारण उपमान (अंघ सादृश्य) होता है ।

(ऊ)

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और परिचय-

हिन्दी भाषा की ऐतिहासिक-शृंखला का अनुसंधान कई विद्वानों ने कई प्रकार से किया है । प्राकृत व पालि के आगे-पीछे के क्रम में तथा अपभ्रंशों के हिन्दी से सम्बन्ध जाँड़ने में भिन्न २ मत भिन्न २ प्रकार से हैं । हम यहां एक वंश-वृत्त देकर अपने मत का उल्लेख कर रहे हैं । आशा है, भाषा-शास्त्र के छात्र को इस वंश-वृत्त से हिन्दी की ऐतिहासिक-शृंखला सरलता से समझ में आ जायगी :—

वंश-वृत्त

अगले पृष्ठ पर देखिये

प्राक् वैदिक काल

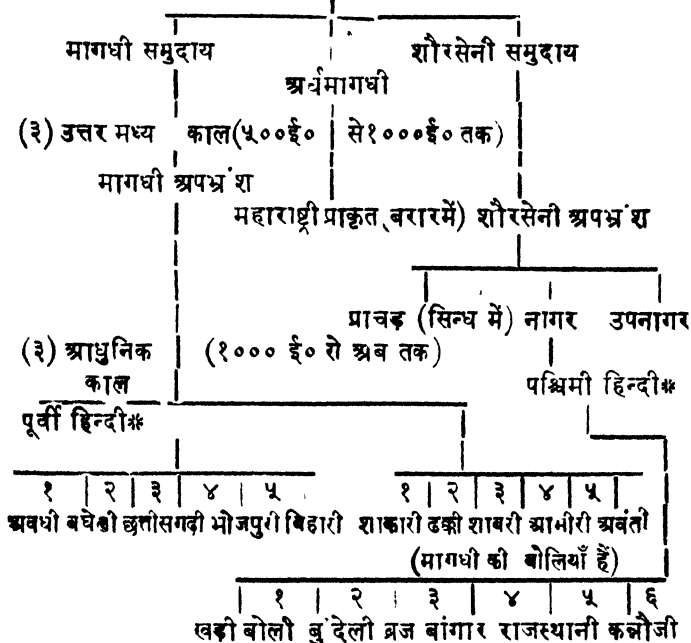
(आदिम या मूल भाषा)

(१) पूर्वकाल वैदिक भाषा (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक)

संस्कृत भाषा

(२) पूर्व मध्यकाल प्राकृत (५०० ई० पू० से १ ई० तक)

दूसरी प्राकृत या पालि (१ ई० से ५०० ई० तक)



* राजस्थानी पर नागर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक पड़ा है।

इसका कारण यह है कि गुजरात व राजस्थान पड़ोसी-पड़ोसी प्रांत हैं।

* पूर्वी व पश्चिमी हिन्दी, हिन्दी है इसी नाते सभी बोलियों की गणना हिन्दी वर्ग में ही की जाती है, चाहे वे पूर्वी की बोलियाँ हों चाहे पश्चिमी की।

आधुनिक आर्य भाषाएँ

वर्तमान भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति सीधी अपभ्रंश से हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का उदय हुआ है। इनमें भी गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध मुख्यतः शौरसेनी की नागर-शाखा से है। बिहारी, बंगला, आसामी और उड़िया का उदय मागध अपभ्रंश से हुआ है तथा पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रंश से। एवं इसी प्रकार मराठी भाषा का विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से होना चाहिये। इतना जान लेने पर भी वर्तमान पश्चिमांश प्रदेशीय भाषाओं का विकास-सूत्र जानना शेष रह जाता है। इन भाषाओं के लिए कोई प्राकृत का रूप नहीं मिलता, किन्तु विद्वानों ने इनके लिये भी कुछ साधन ढूँढ ही लिये हैं। सिन्धी के लिये ब्राचड़ अपभ्रंश का और लहदा के लिये केकय अपभ्रंश का सहारा खोज लिया गया है।

इन भाषाओं का आपसी सम्बन्ध इनके ध्वनि-समूहों से भी सिद्ध हो जाता है। आगे इनके ध्वनि-समूहों पर ही संक्षेप में विचार किया गया है।

(ध्वनि-समूह)

१-प्राकृत-ध्वनि समूह

पालि और प्राकृतों में स्वर और व्यंजन दोनों ही ध्वनियाँ प्रायः समान ही हैं शौरसेनी प्राकृत और पालि के ध्वनि-समूह में कोई अन्तर नहीं। पाली की ङ, ढ ध्वनियाँ शौरसेनी में भी हैं। परन्तु, पालि के न और य शौरसेनी में नहीं। प्राकृत में पालि की न और 'य' ध्वनि के स्थान में क्रमशः ण और ज हो जाते हैं।

२-पालि ध्वनि ध्वनिसमूह*

पालि में दस स्वर ये हैं :—अ,आ,इ,ई,उ,ऊ,ए,ऐ,ओ,औ । ऋ,ॠ,लृ,लृ का इस भाषा में सर्वथा अभाव है । 'ऋ' के स्थान में 'अ' 'इ' अथवा 'उ' का प्रयोग होता है । 'ऐ' 'औ' के स्थान में 'ए' 'ओ' हो जाता है । संयुक्त व्यंजनों के पूर्व ह्रस्व 'ए' 'ओ' भी मिलते हैं । वैदिक संस्कृत की किसी-किसी विभाषा में ह्रस्व 'ए' 'ओ' की ध्वनियाँ मिलती थीं पर परवर्ती संस्कृत में इनका सर्वथा अभाव है । पालि की ये ह्रस्व 'ए', 'ओ' वाली ध्वनियाँ, प्राकृत व अपभ्रंशों में होती हुई हिन्दी तक में आ पहुँची है ।

३-अपभ्रंश का ध्वनिसमूह

अपभ्रंशों में कोई विराप ध्वनि परिवर्तन नहीं हुआ । शौर-सेनी अपभ्रंश की ध्वनियाँ वे ही हैं जो पालि में पाई जाती हैं । अपभ्रंशों में १० स्वर और ३७ व्यंजन ध्वनियाँ पाई गई हैं ।

४-हिन्दी ध्वनि-समूह

अपभ्रंश की १० स्वर और ३७ व्यंजन ध्वनियाँ हिन्दी में भी मिलती हैं । इसके अतिरिक्त 'ए' (अए) और 'औ' (अओ) इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिन्दी में पाया जाता है । आधुनिक हिन्दी में कुछ व्यंजन ध्वनियों की वृद्धि हुई है । यथा—क,ख,ग,ज,फ, आदि की ध्वनियाँ । ऋ,प, व ये तीन ध्वनियाँ हिन्दी में संस्कृत तत्सम शब्दों में ही प्रयुक्त होती हैं ।

५-रूप

हिन्दी विभक्ति प्रधान भाषा है । संज्ञा, सर्वनाम व क्रियाओं में ही हिन्दी में विभक्तियों का विचार होता है ।

* दूसरी प्राकृत भी इसी का नाम है ।

हिन्दी का विस्तार, मूलअर्थ, शास्त्रीय, अर्थ व विभाषाएँ ।

भारत के सिंधु, सिंध और सिन्धी के ही दूसरे रूप हिन्दु, हिन्द व हिन्दी माने जाते हैं । सिन्ध एक देश, सिन्धु एक नदी व सिन्धी उस देश की एक भाषा को कहते हैं, वैसे ही-फारसी से आये हुए हिन्दु, हिन्द व हिन्दी के अर्थ क्रमशः एक जाति, एक देश व एक भाषा होते हैं ।

प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से हिन्दवी या हिन्दी शब्द फारसी भाषा का है । इसका अर्थ 'हिन्द का' होता है । अतः यह फारसी ग्रन्थों में हिन्द देश के वासी व भाषा दोनों अर्थ में आता है । इसका उदाहरण पंजाबी में मिलता है । पंजाब का रहने वाला आदमी अपने को भारतवासी न कह कर 'हिन्दी' कहता है । हिन्दी भाषा का क्षेत्र बड़ा विशाल है । इस क्षेत्र की सीमा यह हैः—पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक, दक्षिण-पूर्व में रामपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक । इस भूभाग के निवासियों के लिखने-पढ़ने की, शिक्षा-दीक्षा की व बोल-चाल, पत्र-पत्रिका तथा व्यवहार की भाषा हिन्दी है । इस दृष्टि से बिहारी (भाजपुरी, मगही व मैथिली), राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती व हाड़ौती), पूर्वी हिन्दी (अवधी, बंगली व छत्तीसगढ़ी), पहाड़ी आदि सभी हिन्दी की विभाषाएँ मानी जाती हैं, और १७ करोड़ उसके बोलने वालों की संख्या है । पर भाषा-शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी खण्ड में तीन चार ही भाषाएँ हैं । राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी आदि पृथक् भाषाएँ मानी जाती हैं । इस तरह हिन्दी केवल मध्य देश की भाषा रह जाती है । आधुनिक विद्वान्

पश्चिमो हिन्दी को ही हिन्दी मानते हैं और पूर्वी हिन्दी को पृथक् भाषा । हिन्दी शौरसेनी की वंशजा है, और पूर्वी हिन्दी अर्धमागधी की । इसी से प्रियर्सन व चटर्जी ने पश्चिमी हिन्दी को ही हिन्दी शब्द से व्यवहार किया है, और उसकी विभाषा या बोलियाँ पाँच मानी हैं । वे ये हैं:—१ ब्रज, २ कन्नौजी, ३ बुंदेली ४ बांगरू, और ५ खड़ीबोली ।

१—खड़ी बोली

खड़ी बोली आज राष्ट्रभाषा है । साहित्य व व्यवहार सभी में उसका बोलबाला है । ब्रज, अवधी आदि अन्य साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने को लोग आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को खड़ी बोली कहते हैं । यह बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा कलसिया और पटियाला के पूर्वी भागों में बोली जाती है, इसमें फारसी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है । ५३ लाख इस भाषा के बोलने वाले हैं । इसका जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है और कुछ पंजाबी का भी इस पर प्रभाव है ।

बाँगरू—यह पंजाब के दक्षिण पश्चिम में बांगर प्रान्त की भाषा है । रोहतक, मींद, हिसार, नाभा आदि की ग्रामीण बोली यही है । इसमें पंजाबी, राजस्थानी व खड़ी बोली तीनों की खिचड़ी है । इसके बोलने वाले २२ लाख हैं ।

ब्रजभाषा—यह ब्रजमण्डल की बोली है । मथुरा, आगरा, भरतपुर, धौलपुर, और अलीगढ़ में बोली जाती है । इसका साहित्य प्रचुर है । इसके बोलने वाले ८६ लाख हैं ।

कन्नौजी—गंगा-यमुना के मध्य दोआब में बोली जाती है । साहित्यिक कन्नौजी और ब्रजभाषा में कोई अन्तर नहीं है ।

बुन्देली—यह बुन्देलखण्ड प्रान्त की भाषा है। ब्रज के दक्षिण में भान्सी, जालौन, हमीरपुर, बाँदा, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी आदि में मिलते हैं। ६६ लाख इसके बोलने वाले हैं।

मध्यवर्ती भाषाओं में वे भाषाएँ आती हैं जो बहिरङ्ग, भाषाओं के बीच की कड़ी हैं। जैसे पूर्वी हिन्दी-यह भाषा बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग भाषाओं की कड़ी है। ये भाषाएँ सात हैं। पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केन्द्रिय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी, और पूर्वी हिन्दी।

हिन्दी की आकृति व्यवहिति प्रधान है। बहिरंग भाषाओं में संहिति व व्यवहित दोनों का मिश्रण पाया जाता है।

बहिरंग भाषाएँ—सिन्धी, मराठी, बिहारी, उड़िया, बंगाली, आसामी और अनिशित परिवार की भाषाएँ—जैसे अन्दमानी, कारेन आदि आदि हैं।

हिन्दी की कुछ अन्य बोलियाँ *

(अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी आदि)

अवधी—हरदोई जिले को छोड़कर अवधी शेष सारे अवध की भाषा है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद आदि जिलों में बोली जाती है। इनके अतिरिक्त दक्षिणी जिलों में गंगापार, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्जापुर में भा यही बोली जाती है। इसके बोलने वाले १ करोड़ ४२ लाख हैं। ब्रजभाषा के साथ-साथ इसमें भी साहित्य पनपा है यद्यपि यह ब्रजभाषा के प्रतिद्वन्दीपन में ठहर न सकी।

* ये बोलियाँ पूर्वी हिन्दी से ही अधिक सम्बन्ध रखती हैं।

बघेली—अवधी के दक्षिण में इसका क्षेत्र है। इसका मुख्य क्षेत्र रोवाँ राज्य है किन्तु, यह मध्य प्रान्त जबलपुर, माँडला तथा बालाघाट के जिलों तक फैली है। इसके वक्ता ४६ लाख हैं। यहाँ के कवियों ने अवधी का ही आदर किया है।

छत्तीसगढ़ी—इसे लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्य प्रान्त में रामपुर और विलासपुर के जिलों में बोली जाती है। इसका प्रसार रामगढ़, कोरिया, उदयपुर तथा जशपुर आदि राज्यों में भी है। ३३ लाख के करीब इसके वक्ता हैं। पर यदि इसके मिश्रित रूपों को भी मिला लें तो करीब ३८ लाख की संख्या हो जाती है। कोई पुराना साहित्य इसमें नहीं मिलता है। कुछ नई बाज़ारू पुस्तकें अवश्य मिलती हैं।

भोजपुरी—बिहार के शाहाबाद जिले में भोजपुर एक छोटा-सा परगना और क़स्बा है, इस बोली का नाम इसी स्थान के नाम से पड़ा है। यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। यह बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, शाहाबाद आदि में बोली जाती है। इसके वक्ता दो करोड़ हैं। बनारस में इसके रहते हुए भी कवि गए ब्रज व अवधी भाषाओं को ही अपनाते रहे हैं।

हिन्दी का शब्द-समूह

हिन्दी में कई जीवित व मृत भाषाओं के शब्द हैं। साधारणतः हिन्दी शब्द-समूह को पांच भागों में बाँटा जा सकता है—

क—तत्सम

ख—तद्भव

ग—अर्धतत्सम

घ—देशज

और ङ—विदेशी

तत्सम—वे शब्द हैं जो अपने शुद्ध संस्कृत रूप में व्यवहृत होते हैं। साहित्यिक हिन्दी में इनका अधिक प्रयोग होता है। आजकल इन्हीं शब्दों का प्रचार बढ़ रहा है। भाषा में नवीन-नवीन भावों को अभिव्यक्त करने के लिये इस युग में तत्सम शब्द ही बढ़ रहे हैं।

तद्भव—वे संस्कृत के शब्द हैं जो प्राकृत, पालि व अपभ्रंश में होते हुए विकृत होकर हिन्दी में आये हैं। हिन्दी में ऐसे ही शब्दों का बाहुल्य है। यथा—

तत्सम

कृष्ण

घत्स

तद्भव

कान्ह, कन्हैया, कान्हा

बच्छ, बछड़ा, बाछड़ा

बाछ्या, बच्चा इत्यादि।

अर्ध तत्सम—वे शब्द हैं जो संस्कृत से आधुनिक काल में ही विकृत होकर, मध्यकालीन भाषाओं से न आकर सीधे हिन्दी में आ गए हैं। यथा—

संस्कृत

कृष्ण

हिन्दी

किशन

देशज—वे शब्द हैं जो अनार्य भाषाओं से तत्कालीन आर्य भाषाओं में आ मिले हैं। यथा—द्राविड़, तामिल, तेलगू और मुण्डा भाषाओं के शब्द। यथा, पिल्लई, कुड़ी, आदि।

विदेशी शब्दों में तीन प्रकार के शब्द चल रहे हैं:—

१—अंग्रेजी

२—फारसी

३—अरबी

अंग्रेजी शब्द यथा—लालटेन (Lantern)

स्टेशन (Station)

स्लेट (Slate)

पैन्सिल (Pencil)

टाइम (Time)

फारसी शब्द यथा—हफ्ता (सप्ताह)

सिपाही (सैनिक)

उस्ताद (अध्यापक)

अरबी शब्द यथा—कागज़ (कागद)

कुलह (टोपी)

अक़ल (अक़ल)

किताब (पुस्तक)

क़वायद (नियम) आदि आदि ।

हिन्दी का आधुनिक रूप

(क) भाषा की दृष्टि से

आधुनिक हिन्दी में कारक के चिन्ह विभक्ति से पृथक् हैं । विलायती प्रभाव कहकर हम इसका निराकारण नहीं कर सकते हैं इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के सम्बन्ध कारक के सर्वनाम में मिलता है । जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० में किस्स का कारकचिह्न 'का' हो गया । काव्यों की पुरानी हिन्दी में सम्बन्ध की 'हि' विभक्ति (माग० में 'ह', अप० 'ही') सब कारकों का काम दे जाती है । अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिन्ह लगाने के पहले यह 'हि' आता है । जैसे—'कहि का' पुराना रूप 'कीह, कहँ', 'केहि कर' आदि २ । यद्यपि बोल चाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है । ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए । उनमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको'

‘जाको’ आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है, यह इस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। आधुनिक हिन्दी में- सर्वनामों के मुझे, तुझे, मेरा, तुम्हारा, हमारा को छोड़कर विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर, अवधी और ब्रजभाषा में हैं। जैसे-पुराने रूप ‘रामहिं’ ‘बनहिं’ ‘घरहिं’ और नए रूप ‘रामै’ ‘बनै’ ‘घरै’ (अर्थात् राम को, बनको, घरको) अवधी या पूर्वी “घरै” अर्थात् घर में इत्यादि २। इस प्रकार आज तो हिन्दी का कलेवर पूर्ण विकसित हो चुका है। इसमें अब लक्षणिकता आ गई है। रहस्यवाद, छायावाद की भावनाओं ने हिन्दी की इस अभिव्यक्तनाशक्ति को बहुत उर्वर कर दिया है। अब हिन्दी में भाषा शैथिल्य नहीं है। उर्पयुक्त पंक्तियों में कारक चिन्हों के निदर्शन द्वारा उसके क्रमिक विकास पर ही थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है किन्तु, अन्य अंशों में भी विकास का यही क्रम हिन्दी को प्रौढ़ बना चुका है। रूप की दृष्टि के विकास के साथ २ आज हिन्दी में भावात्मक विकास भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

ख-भावकी दृष्टि से हिन्दी का विकास

आधुनिक युग हिन्दी साहित्य में प्रवृत्तियों का संकुल युग है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध सभी क्षेत्रों में नूतन प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव है। सर्वप्रथम आधुनिक युग के पिता स्वर्गीय श्री भारतेन्दु बाबू का हिन्दी साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों का प्रेरक कह सकते हैं। यद्यपि उनकी प्रेरणाओं के मूल तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ ही कारण हैं, तथापि हमारे आधुनिक साहित्य को राष्ट्रीय विचारों की प्रेरणा मिली भारतेन्दु जी से ही है। अंग्रेजों द्वारा भारत का पैसा बाहर जाते देख उन्हीं को खेद हुआ है। वैसे तो उनका भाषा, भाव और शैली तीनों ही क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा, परन्तु जितना भावों पर पड़ा

उतना भाषा व शैली पर नहीं। इनके पीछे चौधरी व द्विवेदीजी द्वारा भी हिन्दी को पर्याप्त उत्तेजनाओं के साथ-साथ राष्ट्रीय भावनाएँ मिली हैं। स्वतंत्रता की वृत्ति इस समय प्रत्येक साहित्यकार की रचनाओं में झलकने लगी थी। श्रीधर पाठक का पर्याप्त देश-प्रेम उनकी काश्मीर-सुषमा में देखने योग्य है। आपने कविता में स्वच्छन्दतावाद को जन्म देकर देश की स्वच्छन्दता को और भी दृढ़ किया। हरिऔधजी को भी हम हिन्दी साहित्य की प्रेरक शक्तियों में ऊँचा स्थान दिये बिना नहीं रह सकते। यहाँ आते-आते लोकसेवा का भाव देश के समस्त महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इस विषय में प्रिय-प्रवास के श्री राधाकृष्ण का चरित्र दृष्टव्य है।

बा० मैथिलीशरण गुप्त के पास आकर तो हम राष्ट्रीय भावनाओं का स्रोत सा उमड़ा देखते हैं। 'भारत-भारती' का जिसने पढ़ा है उसे विश्वास हो जाता है कि देश की राष्ट्रीय आन्दोलन-भावना उसके अक्षर-अक्षर से कैसे उमड़ा पड़ती है। पुनः रामचरित्र उपाध्याय को 'राष्ट्रभारती' व 'भारत-भक्ति' देख कर कौन कह सकता है कि राष्ट्रीय क्षेत्र की ये रचनाएँ अमूल्य वस्तुएँ नहीं। पं० नाथूराम शंकर शर्मा की प्रेरणा से देशोद्धार की बाधक सामाजिक रुढ़ियों को उखाड़ फेंकने की ओर लोगों का ध्यान गया। यहाँ पहुँचकर हिन्दी की भावात्मक पद्धति में पुनः एक परिवर्तन होता है। अब तक लोग देश की अवनति का कारण बाहर खोजते थे किंतु अब भीतर अपने घर में भी खोजने लगे। त्रिपाठीजी ने तो पथिक लिखकर आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं का वर्णन ही नहीं जीवित चित्र खड़ा कर दिया। स्वदेश-भक्ति की जो भावना

† देश की मनुष्याकार प्रतिमा की कल्पना सर्व प्रथम आपने ही की है।

भारतेन्दुजी के समय से चली थी उसे सुन्दर कल्पना द्वारा आकर्षक रूप त्रिपाठीजी ने ही तो प्रदान किया। देश-भक्ति का यह भाव उनके पात्रों को कई क्षेत्रों में सौंदर्य प्रदान करता दिखाई पड़ता है। ये सौंदर्य कर्मक्षेत्र व प्रेमक्षेत्र दोनों में है। आपके काव्य में प्राकृतिक वर्णन में भी विशेषताएँ हैं। पाठकजी के पीछे प्रकृति-वर्णन की पद्धति का शोधन आप ही ने किया है। यहाँ आकर त्रिपाठीजी ने हमारे साहित्य को राष्ट्रभक्ति के प्रकृत पथ पर खड़ा कर दिया है। इसके पीछे व्यक्तिगत वीरता और शौर्य को *लालाजी ने स्फुरण दिया। श्री वियोगी हरि आदि से भी इस ओर कुछ प्रेरणाएँ मिली हैं। तृतीयोत्थान के साथ-साथ इधर राष्ट्रीय आन्दोलन का क्रियात्मक क्षेत्र भी चेत उठा। अब तो साहित्य की सारी शक्तियाँ इसी ओर दूट-सी पड़ी हैं। कुछ तो पश्चिम के साहित्यिक आन्दोलनों के कारण सीधा, और कुछ ब्रह्मसमाज व बंगाली महाकवि रविन्द्रनाथ के कारण हिन्दी की भावात्मकता का भुकाव इधर कुछ रहस्योन्मुख भी हो चला था। यद्यपि यह साम्प्रदायिक रहस्यवाद पश्चिम में अब हेय माना जाने लगा था तब भी हिन्दी में कुछ पश्चिम के भक्तों ने, पश्चिम को ही सर्वस्व मानकर चलते हुए, इस रहस्यवाद को खूब अपनाया। किन्तु, इसके अनुपाद ही यथार्थवाद व प्रगतवाद के भावों का ऐसा रैला आया जिसमें भावात्मकता ठहर न सकी। फल यह हुआ कि आज एक अस्थिर, किन्तु, वैभिन्ययुक्त विचार-धारा के साथ हिन्दी का भाव-जगत् नवीन २ शैलियों में अभिव्यक्त हो रहा है, यह एक प्रकार से सन्ताप का विषय और उन्नति का लक्षण है, किन्तु पश्चिम की अंग्रेजी नकल का जहाँ तक प्रश्न है इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। अच्छा हो, यदि हमारे कलाकार अपनेपन का ध्यान रखकर ही कलाक्षेत्र में आगे बढ़ें। भाषा-

विज्ञान की दृष्टि से भावना परिवर्तन का एक विशेष महत्त्व है, इसी से यहाँ इस विषय पर संक्षेप में कुछ प्रकाश डाला गया है। भावना के साथ २ उसे व्यक्त करने के साधन, भाषा, के रूप पर भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है, शब्दों के नये प्रयोग इसी क्रिया-कलाप की देन होते हैं। रहस्यवाद, छायावाद, प्रतीकवाद आदि का चाहे और कुछ परिणाम हुआ हो या नहीं, परन्तु, हिन्दी की लाक्षणिकता को इनके आगमन से बहुत कुछ बल मिला यह निर्विवाद है। प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं।

कुछ आवश्यक टिप्पणियाँ

डिङ्गडैङ्गवाद—यह भाषा की उत्पत्ति के सन्बन्ध का एक मत है। श्री मैक्समूलर महोदय ने इसे निकाला था। उनका कहना है कि जैसे एक कांसी के बर्तन में टेस लगने से दूसरे निकट वर्त्ती बर्तन में भी ध्वनि होती है, उसी प्रकार बाहरी दृश्यों से हृदय पर भी एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण जो शब्द मुख से निकल पड़ते हैं वे इसी वाद की देन हैं। इस प्रकार जो शब्द बनते हैं उन्हीं से भाषा का कलेवर सम्पन्न होता है। पर अब यह मत नहीं माना जाता।

तारापुरवाला—ये एक पुरातत्त्वानुसंधायक वा लिपि विशेषज्ञ सज्जन हैं। दक्षिण हैदराबाद के पुराने पीतल के बर्तनों के चिन्हों से इन्होंने लिपि का श्री गणेश माना है।

जेकब ग्रिम—आप एक प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी हैं। आपने आर्य परिवार व जर्मन तथा अन्य यूरोपियन परिवार की भाषाओं का अध्ययन करके कुछ ध्वनि नियम बनाये हैं। आपने जर्मन भाषा का व्याकरण भी लिखा है !

कीलाक्षर—एक लिपि है जो दारा के लेखों में मिलती है। इसका आरम्भ फोनीशी से माना जाता है। यह लिपि कील से

इंटों पर लिखी जाती थी इसीसे इसे कीलाक्षर लिपि कहते हैं।

अपनिहिती—का अर्थ है शब्द के मध्य में (इ) या (उ) का आगमन।

स्वर-संगति—का अर्थ है स्वर का एक भाग। इसी में पूर्व-हिती और अपनिहिती आ जाती हैं।

महाप्राण—वर्ग के दूसरे व चौथे अक्षर को कहते हैं।

भाषाओं पर टिप्पणी

सिंहली—यह मराठी के दक्षिण वर्ग की होने से बहिरंग भाषाओं में है।

हिन्डाइट—यह एक राज्य का नाम है। इस राज्य का पता अभी एशिया-माइनर की खुदाई के समय लगा है। ईसा से १४, १५ शती पूर्व यह राज्य था। इसीकी भाषा है 'हिट्टी'। यह भारोपीय परिवार की है।

हिब्रू—इब्रानी में वर्तमान हिब्रू का प्राचीन रूप मिलता है। इसी प्राचीन हिब्रू में ईसाइयों का प्राचीन विधान लिखा गया है। अर्माइक, लैटिन, प्राचीन हिब्रू आदि का इस पर प्रभाव है।

ब्राहुई—यह भाषा द्राविड़-परिवार की है, पर कलात में बोली जाती है, कुछ लोग यहां सिन्धी बोलते हैं। आश्चर्य है यह भाषा यहाँ कैसे आई ?

ग्रीक—इस भाषा का प्राचीन रूप होमर की रचनाओं में है। यह संस्कृत से बहुत मिलती है। इसके चार रूप हैं :—

१—होमरिक

२—साहित्यिक

और ३—मध्यकालीन तथा ४—आधुनिक।

स्पर्शघर्ष—कुछ वर्ण ऐसे होते हैं जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता है, पर साथ ही वायु मुख में रगड़ खाकर इस प्रकार

निकलता है कि उसमें ऊष्म-ध्वनि भी सुन पड़ती है। ऐसे वर्ण स्पर्श-घर्ष कहलाते हैं। यथा—च, छ, ज, झ।

उत्क्षिप्त—वे ध्वनियाँ उत्क्षिप्त कहलाती हैं जिनमें जोभ तालु के किसी भाग को वेग से मारकर हट जाती है। यथा—ड, ढ।

सावर्ण्य—भाषा की साधारण प्रवृत्ति होती है कि ध्वनियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती हैं। जहाँ पूर्व वर्ण के कारण पर वर्ण में बदल होता है वहाँ 'पूर्व सावर्ण्य' होता है। यथा—चक्र से चक, अग्नि से अगि।

भेदीकरण—धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द एक बार पर्याय रहते हैं या देखने में पर्याय वाची मालूम पड़ते हैं, वे शब्द जिस व्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा भिन्न २ अर्थों में आने लगते हैं, उसे भेदीकरण का नियम कहते हैं।

संकेत-ग्रह—संकेत समय को कहते हैं। इस संकेत का ज्ञान प्रधानतया व्यवहार से होता है। संकेत अनित्य है। उसे लोकेच्छा बनाती बिगाड़ती है। यह संकेत लोक द्वारा निर्धारित होता है। धीरे २ प्रयोग के साथ इसमें अर्थ का योग हो जाता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ के आपसी सम्बन्ध का उत्पादक साधन ही संकेत कहलाता है।

❀ ये टिप्पणियाँ बहुधा परीक्षा में पूछी जाती रहती हैं।

